जागोरी की पत्रिका
जुलाई–दिसम्बर 2014

हम सबला

इस अंक में
महिला फ़नकार

डर को हम अपने ख़्वाबों के रास्तों में नहीं आने देंगे

हम सबला

जुलाई-दिसम्बर 2014

इस अंक में

संपादन एवं अनुवाद
जुही जैन

संपादन सहयोग
वीणा शिवपुरी, अनामिका, सीमा श्रीवास्तव, शर्मिला भगत, गीता नम्बीशन

विशेष सहयोग
जया श्रीवास्तव, विभूति पटेल, सुनीता धर

मुख पृष्ठ
पोस्टरः 'वूमन एंड फ्लावर्स'
(जागोरी द्वारा पूर्व प्रकाशित)
पेंटिंगः गोगी सरोज पाल, शब्दः कमला भसीन

पिछला कवर
पोस्टरः 'दीवार' (जागोरी द्वारा पूर्व प्रकाशित)
शब्दः कमला भसीन, चित्रः बिंदिया थापर

पृष्ठ सज्जा
विनय आदित्य, यशवंत सिंह रावत

सज्जा व मुद्रणः सिस्टम्स विज़न
systemsvision@gmail.com

हम सबला में शामिल किसी भी रचना, कविता, पोस्टर व चित्रांकन का किसी भी रूप में अनुवाद, उद्धरण अथवा पुनर्रचना जागोरी की लिखित अनुमति के बगैर नहीं किया जा सकता। कॉपीराइट कानून के तहत 'हम सबला' प्रकाशन के सर्वाधिकार जागोरी के पास सुरक्षित हैं।
लिखित अनुमति के लिए सम्पर्कः jagori@jagori.org

डिस्क्लेमरः इस प्रकाशन में शामिल लेखों में व्यक्त विचार और मत लेखकों के निजी हैं और जागोरी की आधिकारिक नीतियों और दृष्टिकोण को अनिवार्य रूप से नहीं दर्शाते। प्रकाशन में शामिल जानकारी के चयन पर अंतिम निर्णय संपादक-मंडल को होगा।

केवल सीमित वितरण के लिए

बी-114, शिवालिक, नई दिल्ली 110017
ई-मेलः distribution@jagori.org
वेबसाइटः www.jagori.org
दूरभाषः 26691219, 26691220
हेल्पलाइनः 26692700

हमारी बात

महिला कलाकार	अनामिका	1

लेख

महिला फ़नकारों के फ़न को सलाम !	विद्या राव	2
कश्मीरी कवयित्री-ललद्यद	वीणा शिवपुरी	5
मधुबनी-मिथिला पेंटिंग- औरतों की एक खूबसूरत और चटकीली पहचान	अनुपमा झा	43
देहली को बनाने वाली औरतें	रख़्शंदा जलील	51
मुगल शहज़ादी-जहांआरा और ज़ेब-उन-निसा	रज़ा रूमी	53

कविता

विश्वपला / सूर्या सावित्री	पवन करण	8
मिथिला पेंटिंग/प्रेम के लिए फांसी	अनामिका	20/58

कहानी

दो कलाकार	मन्नू भंडारी	11

आमने-सामने

हंसा वाडेकर- रंगमंच व मराठी फ़िल्म अभिनेत्री	नगमा जावेद मालिक	46
पांडवानी- इतिहास की कसौटी पर वर्तमान को तोलती कला	सुनीता ठाकुर	55

यादगार

बिंदिया- मेरी दोस्त, मेरी हमसफ़र	कमला भसीन	21
अलविदा ज़ोहरा आपा	गौहर रज़ा	40

संवाद

नृत्यकला बदलाव का एक सशक्त माध्यम है	शीमा किरमानी	9
ऐनी चोइंगा ड्रोल्मा-द सिंगिंग नन	बीरेश प्रताप सिंघा/ प्रतिवा श्रेष्ठा	16
सूफ़ी तबला कव्वाली की धुन	अमीना चिश्ती	18
सर्कस की 'नई' दुनिया की झलकियां	मारी-ऐन्द्री रॉबितैल	48
वल्काना महिला सर्कस	वल्काना सर्कस टीम	49

फ़िल्म समीक्षा

असगरी बाई-सन्नाटे का सुर-पंचम	सीमा श्रीवास्तव	57

पुस्तक परिचय

अ रेबल एंड हर कॉज़- द लाइफ़ एण्ड वर्क्स ऑफ़ रशीद जहां	जुही जैन	59

हमारी बात

महिला कलाकार

कमरे में लटकी हैं
इनकी सम्मान पट्टिकाएं!
स्थानीय महिला-मंडल के
सालाना जलसे में
रंगारंग सांस्कृतिक गतिविधियों की खातिर अर्पित
सम्मान-पट्टिकाएं,
हंसती हैं मजबूर मां की हंसी
जब घर में होती है कल्याणियों की
धुरहक मरम्मत –
ज़रूरत से ज़्यादा जो बन जाए सब्ज़ी,
ज़रूरत से ज़्यादा जो फ़ोन चले आएं या
बिखरी किताबें हों टेबुल पर
या बच्चे कर दें कुछ गड़बड़
या साहब के कपड़ों के
उज्जवल चरित्र पर कहीं
छूट गया हो गलती से
हल्का-सा धब्बा!
फेहरिस्त लम्बी है इनके अपराधों की!
चलती हैं ये तानपूरे बचाती
विपुल शस्त्र-संचालन से!
सोचती हूं –
बंगाली हो या मद्रासी
उड़िया, बिहारी या आसामी –
सबके घर में आखिर कैसे पाए जाते हैं
एक तरह के छींके,
घड़े, सूप, डगरे,
उतरे हुए तानपूरे,
फटी हुई भांती
हारमोनियम की,
जोड़े में एक ही बची
विधवा / विधुर
तबला-डुग्गी!
एक पुरानी धोती ओढ़के
कुर्सी पर पड़े
ये पुराने बाजे
बजाते हैं बाजा किसका?
ठहर-ठहरकर कुछ-कुछ बतियाते हैं क्या वे
फांसी पर लटके
सम्मान-पट्ठों से?

अनामिका

लेख

महिला फ़नकारों के फ़न को सलाम!

विद्या राव

काफ़ी वर्षों पहले एक पोस्टकार्ड का (जो अब कहीं खो गया है) मेरी मेज़ पर एक गौरवशाली मुकाम हुआ करता था। इस पोस्टकार्ड जिसका शीर्षक था, *महिला फ़नकार होने के फ़ायदे,* में बड़े ही उपहासपूर्ण तरीक़े से — बतौर फ़ायदे उन तमाम परेशानियों का ज़िक्र किया गया था जिनका सामना एक महिला फ़नकार अपने जीवन में करती है। मसलन एक फ़ायदा यह बताया गया था कि आप 'मां' बनने और 'कलाकार' होने के बीच चुनाव कर सकती हैं!!! या फिर 'एक महिला कलाकार को कला इतिहास की पुस्तकों मे 'फुटनोट' में जगह मिलना सुनिश्चित हो जाता है।' ये जुमले मेरे चेहरे पर कठिन समय में एक हल्की सी मुस्कान ले आते थे पर साथ-साथ मैं इन पर सोचने को भी बाध्य हो जाती थी। भारत में महिला कलाकारों की स्थिति क्या है— पहले क्या थी और आज के दौर में इसकी वास्तविकता क्या है— जटिल नहीं, पर असलियत क्या है?

वाकई भारत में एक महिला फ़नकार होने के मायने क्या हैं? उनके दर्जे, चुनाव, जीवन व काम पर पितृसत्ता कैसे असर डालती है? श्रोता और कलाविद् उन्हें कैसे देखते हैं? और सबसे ज़्यादा अहम— वे खुद अपने काम, ज़िंदगी और अपने आप को कैसे देखती हैं? एक अनकहे इतिहास ने मुझे बौखला दिया था। आमतौर पर यह माना जाता था कि 'औरतें गाती नहीं हैं' पर फिर भी मैंने बचपन और जवानी के दिनों में अनेक महिला गायिकाओं को सुना था। तो फिर इस विरोधाभास के मायने क्या थे?

इस तरह के कई सवाल मेरे ज़ेहन में कौंधते रहते थे। ये महज़ अकादमिक प्रश्न नहीं थे; इनके जवाबों में— फिर वे चाहे कितने अनिश्चित क्यों न हों— अपने आने वाले जीवन में मैं खुद को, एक औरत होने के नाते अपने काम, अपने संगीत, अपने लेखन और अपने जीवन को किस तरह देखती हूं— इस बात के भी संकेत निहित थे। इन सवालों के जवाब समझने की कोशिश में मैंने कई पारम्परिक गायिकाओं, तवायफ़ों को सुना, उनसे बातें की और गुमनामी में खो जाने वाले उनके व्यक्तित्व और हुनर को नज़दीकी से जाना-परखा।

रियाज़ करती बेगम अख़्तर

मेरे लिए समझ का एक महत्वपूर्ण समय वह था जब एक घरानेदार संगीतशास्त्री की पत्नी ने मुझसे कहा, "हम गाते नहीं हैं— गाना तवायफ़ों और पेशेवर औरतों का काम है।" पर मैं जानती थी कि यही औरत एक बेहतरीन गायिका थी— वह अनेक जटिल संगीत रचनाओं और रागों में निपुण थीं और उनकी बारीकियों और तकनीकों पर गहन समझ रखती थीं। अपने परिवार की दूसरी औरतों के साथ मिलकर उन्होंने जीवन से जुड़े अनेक उत्सवों, मौसमी जश्नों और तीज-त्योहारों पर अनेकों गीत रचे और गाये थे। उन्होंने मेरे साथ अपने परिवार की एक ऐसी महिला के बारे में भी बातचीत की थी जिन्हें एक उच्चकोटि

की गायिका समझा जाता था। हालांकि इस महान गायिका ने कभी सार्वजनिक रूप से गायन नहीं किया और न ही खुद को एक गायिका के तौर पर पेश किया परन्तु परिवार के युवा संगीतज्ञों को जटिल बंदिशों का ज्ञान उन्हीं से मिला था।

बातचीत के दौरान मुझे समझ में आया कि मेरी दोस्त के कहने का मतलब यह था कि उनके समुदाय में औरतें गाती तो थीं पर यह उनका 'काम' या 'पेशा' नहीं था और इसके लिए उन्हें कोई 'पैसा' नहीं मिलता था। तब मेरी नारीवादी सोच ने मुझे यह पूछने के लिए मजबूर कर दिया कि क्या जो ये औरतें कर रही थीं— यानी घरेलू गीतों की परम्परा को जारी रखकर, बच्चों-युवाओं को सिखाना, को क्या हम 'काम' नहीं मान सकते? यह सच है कि यह 'वेतनयुक्त काम' नहीं था, न ही इसे एक 'पहचान' के तौर पर पितृसत्तात्मक समाज में 'उत्पादक' काम का दर्जा दिया जाता था, पर मेरी राय में क्या इसको 'काम' का दर्जा दिया जा सकता था? बच्चे के जन्म पर गाये जाने वाले सोहर गीत, ब्याह के आशीर्वाद गीत, बारिश लाने वाले गीत, फ़सल का जश्न मानने वाले गीत, देवी को बेटी स्वरूप घर लाने के समय गाये जाने वाले गीत या किसी अपने के शोक के विरहा गीत— सभी ही औरतों द्वारा किये गये महत्वपूर्ण कामों का अभिन्न अंग हैं जिन्हें वे सदियों से गाती-बजाती चली आ रही हैं।

पर फिर उन औरतों का क्या जिनके लिए संगीत वास्तव में 'काम'— वेतनयुक्त काम है? उसे हम कैसे समझते-देखते हैं? और इससे ही जुड़े हैं पारम्परिक गायिकाओं के जीवन, काम और पहचान के सवाल।

तीसरी सदी से ही हम महिला फ़नकारों-कलाकारों के समूहों के बारे में सुनते आये हैं जिन्हें गणिका, नगरवधु और बाद के समय में कचनी, पत्रिनी, बेड़नी, तवायफ़, बाईजी के नामों से जाना जाता था— ये सभी हुनरमंद गायिकाएं और नर्तकियां हुआ करती थीं जिन्हें समुदाय में एक सम्मानजनक ओहदा हासिल था। उदाहरण के लिए वैशाली नगर की गरिमा और गौरव में वहां की कलाकार आम्रपाली का एक अहम योगदान था।

किसी तरह के दस्तावेज़ीकरण के अभाव में यह सुनिश्चित करना मुश्किल है कि ये औरतें विभिन्न मौकों पर किन रूपों में नाचती-गाती थीं। हालांकि पुराने यानी दसवीं सदी के आसपास मिलने वाले संगीत ग्रंथों में यह दर्ज है कि इन कलाकारों द्वारा गाई जाने वाली संगीत शैली भावनात्मक, अभिव्यक्ति में सराबोर, बेहद सौम्य और गरिमामय थी जिसका नृत्य की एक मनमोहक और निपुण शैली के साथ घनिष्ठ जुड़ाव था।

हमारे पास सबसे ठोस दर्ज उदाहरण बीसवीं सदी संगीत परम्परा के हैं और मैं अपनी बात आगे ले जाने के लिए इसी दौर की महिला कलाकारों पर ध्यान केंद्रित करूंगी।

इन कलाकारों के हुनर जटिल संगीत परम्पराओं के अनेक रूपों का ख़ज़ाना था— ठुमरी-दादरा, गज़ल और उनसे जुड़े संगीत के अन्य रूपों के साथ-साथ वे उन 'मर्दानी' शैलियों जैसे 'ख़याल', 'तराना' में भी पारंगत थीं— इनमें से एक अनोखी गायिका जानकी बाई *छप्पन छुरी* ने तो आने वाली नस्लों के लिए 'नात' और 'सोज़ख़्वानी' की भी रिकॉर्ड की गई विरासत छोड़ी है।

इस पुरालेख में कुछ बातों एकाएक हमारा ध्यान खींचतीं हैं— सबसे पहली, शालीन घरानेदार भाइयों की तुलना में औरतें अधिक उत्साही थीं, विश्वास और आसानी के साथ वे प्रश्रय के नए रास्तों पर चलने का हौसला रखती थीं। साथ ही वे अनेकों शैलियों में गा सकती थीं और गाती भी थीं। वे अपने संगीत का ज़रूरत अनुसार संदर्भ के साथ तालमेल आसानी से बैठाकर— तीन मिनट की एक रिकॉर्डिंग को बेहद खूबसूरती से नफ़स बनाने का हुनर रखती थीं और साथ ही महफ़िल में एक घंटे तक उसी बदिंश को रागों से सजाकर श्रोताओं का मन मोहने की भी क़ाबलियत रखती थीं।

पर यहां मैं एक बार फिर मेज़ पर रखे उसी पोस्टकार्ड पर वापस चली जाती हूं और सोचती हूं— पर उनके जीवन का क्या? समाज में उनका क्या दर्जा था? वे अपने बारे में क्या सोचती थीं?

उन्नीसवीं सदी के अंत और बींसवी सदी के शुरूआती समय में उत्तरी भारत के मध्यम वर्ग की औरतों के पास उत्तराधिकार अधिकार, शिक्षा का हक़ नहीं था और वे घर की चारदीवारी के भीतर ही रहती थीं। हालांकि बदलाव नज़र आ रहे थे पर इनके उदाहरण कुछ छिटपुट ही थे और ये आमतौर पर कुछ अलग ही थे।

दरबार में शामिल 'तवायफ़'

उस समय में शिक्षा पाने वाली औरतों में तवायफ़ें सबसे आगे थीं— वे न सिर्फ़ लिख-पढ़ सकती थीं परन्तु संगीत, नृत्य, कविता और फलसफ़े में भी निपुण थीं। इनमें से कई कुशल व्यवसायी थीं और अमीर भी। साथ ही उनकी राजनैतिक मसलों में रायशुमारी भी अहम थी। प्रख्यात, लेखक अब्दुल हालिम शरार अपनी किताब *'लखनऊ-द लास्ट फ़ेज़ ऑफ़ एन ओरिएंटल कल्चर'* में लिखते हैं कि लखनऊ के नवाब के दरबार में एक ख़ास तवायफ़ की शिरकत के बगैर अधिक लोगों का जमा करना मुमुकिन नहीं होता था।

मध्यम वर्ग में औरत का दर्जा पुरुष से कमतर था, परन्तु संगीतज्ञों में हालात कुछ अधिक जटिल थे। प्रमुख फ़नकार और गायिका होने के नाते, गानेवालियों को अपने साथी वाद्य बजाने वाले पुरुषों से ज़्यादा ऊंचा दर्जा हासिल था। एक बहुत नामचीन तबला नवाज़ के बारे में मैंने एक मशहूर किस्सा सुना है कि वे किस तरह तवायफ़ के कोठे के नीचे इंतज़ार में खड़े रहते थे कि कब उन्हें गायिका के साथ संगत करने के लिए बुलाया जायेगा। पर घरानेदार उस्तादों के सामने यही तवायफ़ें एक नम्र शिष्या की हैसियत रखती थीं।

हालांकि अनेक औरतों ने अपनी मां, मौसी या अन्य बुजुर्ग गाने वाली औरतों से संगीत सीखा था पर पुरुष उस्ताद की शार्गिदी से ही उन्हें बतौर कलाकार-गायिका एक वैध दर्जा मिल पाता था जो दिल बहलाने के लिए संगीत सीखने से अलग था।

उसी दौर की फ़िल्में देखने से हमें ऐसा महसूस होता है कि ये औरतें अपने पेशे से निजात पाकर, ब्याह करके एक इज़्ज़त की ज़िंदगी जीने की ख़्वाहिश रखती थीं। पर मैं समझती हूं कि ये सच्चाई भी और अधिक जटिल रही होगी। यह सही है कि ये गायिकाएं अपने दर्जे में आ रहे बदलाव— जहां एक सम्मानीय कलाकार की जगह उन्हें महज़ यौन कर्मी समझा जाने लगा था, से घबराई और नाखुश थीं। पर फिर भी एक फ़नकार-कलाकार के रूप में अपनी पहचान को वे संजोकर रखना चाहती थीं। लिहाज़ा कुछ तवायफ़ों ने बदलाव से बचने के लिए ब्याह कर लिए पर कुछ ने अपनी कला और अपनी आज़ादी को सहेज कर रखा। जैसा कि मुझे एक तवायफ़ ने बताया कि वे कभी भी शादी से मिलने वाली सुरक्षा के लिए अपना तवायफ़ का जीवन नहीं छोड़ सकतीं क्योंकि इसका मतलब होगा अपनी गायिकी को छोड़ देना।

अब समय बहुत बदल गया है। अब कोई भी औरत संगीत को अपना पेशा बना सकती है और बहुत औरतें ऐसा कर भी रही हैं। तवायफ़ें अब इतिहास के पन्नों में गुम होकर रह गई हैं। पर हमेशा की तरह मध्यम वर्ग की औरतों को मिलने वाले फ़ायदे इन्हीं तवायफ़ों की देन हैं जिन्होंने उस परम्परा को कायम रखा और अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए खुद को एक 'रोल मॉडल' की तरह पेश किया। यह अफ़सोसजनक बात है कि इन 'कलाकार' महिलाओं को, जिन्हें किसी ज़माने में एक सम्मानजनक दर्जा हासिल था, के बच्चों को आज समाज में बेग़ैरत की नज़र से देखा जाता है। उम्मीद है कि हमें आज़ादी की डगर दिखाने वाली इन फ़नकारों के साथ हो रही यह नाइंसाफ़ी भी एक दिन ज़रूर बदलेगी।

विद्या राव *जानी मानी शास्त्रीय संगीत गायिका व नारीवादी लेखिका हैं।*

लेख

ध्यान में लीन ललद्यद

कश्मीरी कवयित्री-ललद्यद

वीणा शिवपुरी

ग्वरन, वां' नुनम कुनय व़चुन, न्यबरू दो, पनम अंदर अ़चुन
सुय गव ललि म्ये वाख तु व़चुन, तवय ह्यो, तमय नंगय ऩचुन

(गुरू ने केवल कही एक बात, बाहर से कर भीतर प्रवेश
लल्ला के लिए यही था सदुपदेश, बिना पक्षधर के हुई नृत्य मगन
(भीतर) लगी घूमने बिना सहायक के।)

साभारः विमला रैना की पुस्तक-ललद्यद मेरी दृष्टि में

चौदहवीं शताब्दी का कश्मीर। 1301 में अंतिम हिन्दू शासक सहदेव की राजशाही समाप्त हो गई। 1339 में शाहमीर वंश की स्थापना हुई और अगले पांच सौ वर्षों तक मुस्लिम शासन रहा। इस्लाम धर्म फैल चुका था। हिन्दुओं में शैव और शाक्त भक्ति का वर्चस्व था परन्तु रामानुजाचार्य की कश्मीर यात्रा के फलस्वरूप वैष्णव धर्म भी जड़ें जमा रहा था। कश्मीर पर मुसलमान आक्रमणकारियों के हमले होते रहे थे परन्तु जबरन मुसलमान बनाए जाने का सिलसिला अभी कुछ दशक दूर था। हिन्दुओं और मुसलमानों की साझी संस्कृति पर वैदिक युग की छाप थी। तब मुसलमान संत भी ऋषि कहलाते थे जैसे नंदा रेशी जिनका असली नाम शेख नूरूद्दीन था। ऐसे सतरंगी माहौल में जन्मी पहली शैव योगिनी कवयित्री ललद्यद।

ललद्यद जन्म के साल पर मतभेद है। पर अनुमान है कि उनका उदय 1320 से 1355 के बीच हुआ था। चूंकि उनके बारे में लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं है इसलिए अधिकांश जानकारी उनकी रचनाओं के आधार पर या दंत कथाओं के माध्यम से मिलती है।

ललद्यद, लल्ला योगिनी, ललदिद्दी, लल्लेश्वरी, लल आरिफ़ा और भी न जाने कितने नामों से पुकारी जाने वाली ललद्यद का जन्म श्रीनगर के दक्षिण पूर्व में करीब साढ़े चार मील दूर, पद्रेनथान गांव (प्राचीन पुरन्धिस्थान) के एक कश्मीरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे बचपन से मेधावी और धार्मिक प्रवृत्ति की थी। 12 वर्ष की उम्र उनका विवाह पाम्पुर के सोन भट के साथ कर दिया गया जहां कश्मीरी रिवाज के अनुसार उनका नाम पद्मावती रखा गया।

विवाह के साथ एक हृदयहीन पति और क्रूर सास के अत्याचारों का सिलसिला शुरू हो गया। एक प्रचलित कथा है कि ललद्यद की सास उनकी थाली में एक गोल पत्थर रखकर उसे पके हुए चावल से ढक देती थी ताकि सबको ऐसा लगे कि वह बहू को ढेर सा चावल खाने को देती है। ललद्यद उसी चावल को खाकर न सिर्फ़ अपनी थाली

बल्कि पत्थर को भी धो-पोंछ कर अगले दिन के इस्तेमाल के लिए रख देती थीं।

सभी यातनाएं सहते, पूरे घर का काम करते हुए भी ललद्यद ईश्वर भक्ति में लीन रहती थीं। 14 साल इसी तरह काटकर 26 वर्ष की आयु में ललद्यद ने घर छोड़ दिया। परिवार से निकलकर रमता जोगी बनने से पहले की एक कथा बहुत लोकप्रिय है। कहा जाता है कि एक दिन ललद्यद को पानी भरकर लाने में कुछ देर हो गई क्योंकि वे भैरव मंदिर में बैठकर ध्यान में लीन हो गयी थी। उसके पति ने लाठी मारकर उनका घड़ा तोड़ दिया ताकि उन्हें फिर से पानी लाना पड़े। परन्तु चमत्कार तब हुआ जब घड़ा टूटकर नीचे गिर गया लेकिन पानी घड़े के आकार में सिर पर टिका रहा जिससे ललद्यद ने घर के सारे बर्तन भर दिए और बचा हुआ पानी बाहर फेंक दिया जहां एक चश्मा फूट पड़ा। लोगों का कहना है कि वह चश्मा सैकड़ों वर्षों तक रहा परन्तु 1925-26 के आसपास वह सूख गया। वह स्थान आज भी लल त्रग कहलाता है।

घर से निकल कर ललद्यद गांव-गांव घूमने लगी। साधु संतों की संगति करती और अपने शिव की भक्ति। उनके आरंभिक पदों में एक उदासी, एक खोज दिखाई पड़ती है। हालांकि उनके पदों का क्रम मालूम नहीं है परन्तु उनके ज़रिए ललद्यद की आध्यात्मिक यात्रा के अनेक पड़ावों का अनुमान लगाया जा सकता है।

ललद्यद शिव भक्त थीं इसमें कोई संदेह नहीं परन्तु उनके शिव साकार भी थे, निराकार भी और परमब्रह्म भी। उन्होंने अपने गुरू सिद्ध श्रीकांत से योग की शिक्षा प्राप्त की थी। वे एक ऊंचे दर्जे की योगिनी थीं। उनके अनेक पद कुंडलिनी जागृत होने और चक्रों पर ध्यान केंद्रित कर आत्म साक्षात्कार करने का संकेत करते हैं।

छः जंगल किए पार और जगाया चन्द्रमा को
(छः चक्र सातवां ब्रह्म रन्ध्र)
सांस को काबू में करके प्रसन्न किया प्रकृति को
प्रेम की अग्नि ने जलाया मेरा हृदय
और इस तरह पाया मैंने शंकर को

ललद्यद की रचनाएं चार पंक्तियों के पदों के रूप में हैं जिन्हें कश्मीरी में वाख़ कहा जाता है। वाख़ शब्द का मूल संस्कृत के वाच या वाक्य में है। लल वाख़ की भाषा संस्कृत और फ़ारसी शब्दों के साथ आम कश्मीरी है। दरअस्ल में वे उनके हृदय के उद्‌गार हैं जो कविता के रूप में बह निकले। उनकी भाषा सरल और उनके बिम्ब रोज़मर्रा के जीवन से लिए गए हैं। यही कारण है कि मौखिक होने के बावजूद ये वाख़ सैकड़ों वर्षों तक लोगों की ज़ुबान पर और यादों में ज़िंदा रहे। संस्कृत ग्रंथों में ललद्यद का उल्लेख नहीं मिलता। सबसे पहले 1620-1720 के दरम्यान संत रूपा भवानी, जिन्हें कश्मीरी, मां शारिका का अवतार मानते हैं ने लल्ला को अपना गुरू बताया।

शुद्धम अत्यन्त विद्याधारम, लल नाम लल परम गुअराम

सन् 1746 में मुहम्मद आज़म देदामारी ने वाक़ियाते कश्मीर में आरिफ़ा कामिला लल्ला के नाम से उनका ज़िक्र किया।

18वीं सदी में राजांका भास्कर ने उनके साठ वाख़ों को पहली बार शारदा लिपि में दर्ज किया और संस्कृत में उनका अनुवाद किया।

19वीं और 20वीं सदी में ग्रियरसन सहित अनेक अंग्रेज़ और भारतीय साहित्यकारों ने न सिर्फ़ लल वाख़ का अध्ययन, शोध व अंग्रेज़ी में अनुवाद किया बल्कि उन्हें कश्मीरी साहित्य की महानतम कवयित्री माना। आज भी कश्मीरी बोलने वाले लोग बग़ैर लल वाख़ का प्रयोग किए बिना बात नहीं कर सकते क्योंकि उनकी बातें, उनके उपदेश कहावतों और मुहावरों के रूप में आम बोलचाल का हिस्सा बन गए हैं। कश्मीरियों के जीवन, उत्सवों, शादियों और पर्वो पर लल वाख़ का प्रभाव आज भी गीतों के रूप में दिखाई देता है। हाल के वर्षों में ललद्यद पर फ़िल्में और नाटक तैयार किए गए है। अभिनेत्री मीता वशिष्ठ की प्रसिद्ध एकल प्रस्तुति देश-विदेश में सराही गई है जिसमें वे ललद्यद के जीवन के मुख्य आयामों को दर्शाती हैं।

हालांकि ललद्यद कश्मीरी शैव अद्वैत दर्शन जिसे त्रिका कहा जाता है को मानती थीं परन्तु उनकी रचनाओं में मीरा सी दीवानगी है। वे अपने शंकर के लिए भटकती मालूम होती हैं और आत्म साक्षात्कार के पश्चात उससे एकाकार भी हो जाती हैं।

दूसरी ओर कबीर की तरह वे कर्मकांड, व्रत उपवास को नकारती भी हैं— *परमात्मा को चाहे शिव, विष्णु, बुद्ध या ब्रह्मा*

कहो, मुझे तो मतलब सिर्फ़ सांसारिक बंधन काटने से है, जो चाहे इनमें से कोई भी कर दे।

मूर्ति भी पत्थर है और मंदिर भी पत्थर
ऊपर और नीचे सब एक है
किसकी पूजा करेगा ओ मूर्ख पंडित
जब तक बुद्धि और आत्मा का मिलन नहीं होता।

ललद्यद और कर्नाटक की अक्का महादेवी के जीवन में अनेक समानताएं हैं। दोनों अपनी ससुराल के अत्याचारों से त्रस्त थीं। दोनों ने ईश्वर भक्ति का रास्ता अपनाकर घर छोड़ दिया और बेसुध होकर घूमने लगीं। दोनों अपने समय की महान संत कवयित्रियां कहलाईं।

ललद्यद हिन्दू मुसलमान में कोई भेद नहीं मानती थीं। दरअस्ल मुसलमान भी उन्हें उतना ही अपना मानते थे जितना कि हिन्दू। एक के लिए वे लल आरिफ़ा थीं तो दूसरे के लिए लल्लेश्वरी।

जहां कहीं जो कुछ है वह शिव है
इसलिए भेद न करो हिन्दू या मुसलमान में
अगर बुद्धि है तो पहचानो अपने आपको
वही है असली ईश्वरीय ज्ञान।

हालांकि ललद्यद की साधना सिद्ध परम्परा से जुड़ी थी परन्तु परमात्मा के प्रति अगाध भक्ति उसका महत्वपूर्ण अंग थी। रामानुजाचार्य अवश्य 11वीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन का बीज बो चुके थे परन्तु चैतन्य, मीरा, कबीर, तुलसी और सूरदास 15वीं शताब्दी में संत कवियों के रूप में उभरे। इस प्रकार न सिर्फ़ कश्मीर में बल्कि समस्त भारत में ललद्यद को भक्ति आंदोलन की प्रर्वतक के रूप में देखा जा सकता है।

ललद्यद के जीवन और दर्शन को जानने के लिए हमारे पास उनकी रचनाओं, दंतकथाओं तथा कुछ उद्धरणों के अलावा अन्य कोई साधन नहीं है। उनकी रचनाएं चूंकि सैकड़ों वर्षों तक केवल मौखिक रूप में रहीं, उनकी प्रामाणिकता पर भी विवाद उठता है। कबीर वाणी की तरह लल वाख़ की संख्या भी निश्चित नहीं है। कितने वाख़ उनके अपने हैं और कितने समय के साथ उनके नाम पर जुड़ गए। विद्वानों ने छानबीन कर अब उनकी संख्या 200 से 258 के बीच तय की है।

इसी प्रकार एक ही वाख़ के थोड़े बहुत अंतर से कई रूप मिलते हैं। इन वाख़ों की व्याख्या पर भी विद्वानों/समीक्षकों में मतभेद है। उनके एक प्रमुख वाख़ जिसमें वे नग्न होकर नाचने की बात करती हैं पर भी एक राय नहीं है। उसी तरह उन्हें बुलबुल शाह की सूफ़ी परम्परा से जोड़ने पर भी अनेक कश्मीरी विद्वानों को आपत्ति है।

आज जब कश्मीर की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियां एक मोड़ ले चुकी हैं अहम बात यह नहीं है कि ललद्यद को लेकर बौद्धिक और वैचारिक युद्ध में कौन जीतता है। महत्व इस बात का है कि ऋषि कश्यप से लेकर कल्हण, ललद्यद और हब्बा ख़ातून तक के प्रेम और सौहार्द के साझे सूत्र पर बल दिया जाए। आज चुनौती है लल आरिफ़ा उर्फ़ लल्लेश्वरी को साझी बपौती के रूप में स्वीकारना और स्थापित करना। आज के घायल कश्मीर को मां लल्ला के प्यार भरे मरहम की ज़रूरत है।

ललद्यद की मृत्यु से जुड़ी दंतकथा भी कबीर से कुछ फ़र्क़ नहीं है। कहा जाता है कि अपने अंत समय में वे अनन्तनाग ज़िले के बीच बिहाड़ा गांव में आ गई थीं। वहीं प्रकाश के रूप में उनकी आत्मा ने शरीर छोड़ दिया और ज्योति आकाश में विलीन हो गई।

जब उनके शरीर के अंतिम संस्कार का प्रश्न उठा तो हिन्दू और मुसलमान दोनों उन्हें अपना मानकर, अपने ढंग से संस्कार करना चाहते थे। तब उनकी आत्मा ने वहां मौजूद लोगों से दो तसले लाने के लिए कहा। एक तसले में शरीर को बिठा दिया और दूसरा सिर पर उल्टा ढक दिया। धीरे-धीरे उनका शरीर सूक्ष्म होता गया और दोनों तसले आपस में मिल गए। जब उन्हें खोला गया तो शरीर के स्थान पर केवल पानी था, जिसे दोनों सम्प्रदायों ने आपस में बांट लिया।

संत शेख नूरूद्दीन उर्फ़ नंदा रेशी ने ललद्यद के लिए कहा है—

पाम्पुर की लल ने दिव्य अमृत पान किया है।
वो बेशक हमारी प्यारी अवतार है
हे ईश्वर मुझे भी तू वही वर दे।

वीणा शिवपुरी *एक लम्बे अर्से से महिला मुद्दों पर लेख, कहानियों और अनुवादों की रचना करती रही हैं। वे 'हम सबला' के सम्पादन मंडल की वरिष्ठ सदस्य हैं।*

विश्वपला

नास्तिक की तरह घूमते हुए वेदों की गलियां
तुम मिली मुझे विश्वपला।

ऋग्वेद में संपन्न हो चुके यज्ञ की
वेदी की राख को बैसाखी से कुरेदते देख
मैंने तुमसे पूछा, अरे विश्वपला
तुम्हारे पास अब भी बैसाखी कैसे?

तुम्हारे लंगड़ेपन को तो, लोहे का पैर लगा, दूर करके
अश्विनी कुमार ने बजा दिया था जहां में अपना डंका!

फिर तुम यह बैसाखी क्यों पकड़े बैठी हो विश्वपला,
क्यों इससे कुरेदने में लगी हो वेदी की राख?
चलो उठो मुझे भी दौड़कर दिखाओ
यजुर्वेद का यह चमत्कार मैं भी तो देखूं।

विश्वपला तुम मेरी तरफ नज़र उठाकर
क्यों नहीं देखतीं, यह वेदी कुरेदना
क्यों नहीं रोकती, बैसाखी दूर क्यों नहीं फैंकती?

विश्वपला यह इक्कीसवी सदी है
और तुम यहां तब से बैठी इस बैसाखी से
यज्ञ की राख ही कुरेद रही हो, अपना हाथ बढ़ाओ
और मेरे साथ इस सदी में अपने कदम चलो!

क्या तुम चलने लायक नहीं हुई विश्वपला,
क्या तुम अब भी लंगड़ी हो?
अपनी चुप्पी तोड़ो, मुंह खोलो अपना विश्वपला
सच सच बताओ, मुझ कवि को बताओ
क्या तुम्हारे भी साथ तब भी वही हुआ
जो अब तक इस सदी में भी जारी है?

सूर्या सावित्री

विवाह की वेदी तक पहुंचने से पहले
और उसके बाद भी उन्हें कभी
बताया ही नहीं गया उसके बारे में।

उन्हें तो बस उस सावित्री के बारे में
बताया गया जो यमराज से
वापस ले आयी सत्यवान के प्राण।

क्यों छुपाई गई स्त्रियों से हमेशा
सूर्या सावित्री की पहचान?
क्यों नहीं बताया गया उन्हें,
तब से उसकी लिखी ऋचाएं अब तक
विवाह मंडप में गाई जातीं लगातार?

जिसने तब पिता द्वारा चयनित
सोम को अपनाने से कर दिया इंकार
और अपने सहपाठी पूषा को चुना
साथ बिताने के लिये अपना जीवन।

क्या बस इसीलिये विवाह की वेदी के आगे
वचन हारतीं स्त्रियों को नहीं बताया गया
उसके बारे में कि कहीं उनमें से कोई
या कई पिता द्वारा चयनित वर से
न कर दें विवाह करने से इंकार?
और कहें नहीं पिता पसंद भी मेरी होगी
और सूर्या सावित्री की तरह शर्तें भी मेरी।

पवन करण

पवन करण *हिन्दी साहित्य के मशहूर कवि हैं।*

- विश्वपला वेद कालीन लंगड़ी स्त्री जिसे लोहे का पैर लगाकर दो वैद्यों ने दौड़ने लायक कर दिया और जिनके लिये यज्ञ में ऋचाएं गायी जाती हैं।
- विवाह सूत्र ऋग्वेद के दसवें मंडल की सूक्त संख्या जिसमें 47 मंत्र हैं, जिनकी रचना सूर्या सावित्री नाम की किशोरी ने अपनी शादी के लिये की। यह कन्या सविता मुनी की बेटी थी जो सूर्या सावित्री कहलाई।

सम्मेलन में बोलतीं शीमा किरमानी

नृत्यकला बदलाव का एक सशक्त माध्यम है

शीमा किरमानी

शीमा किरमानी पाकिस्तान की मशहूर नाट्य कार्यकर्ता, प्रशिक्षित नृत्यांगना और नृत्य निर्देशिका हैं जिन्होंने अमन व महिला अधिकारों पर एक लम्बे अर्से तक काम किया है। शीमा का जन्म 1951 में रावलपिंडी में हुआ था। उनके वालिद बाराबंकी लखनऊ के एक जागीरदार परिवार से थे और उनकी वालिदा दख्खिन हैदराबाद के न्यायधीश की बेटी हैं। शीमा के पिता ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से अपनी शिक्षा हासिल की और फ़ौज में भर्ती हो गए। सन 1947 के विभाजन के बाद उन्होंने पाकिस्तानी फौज में नौकरी की जहां वे अपने पूरी उम्र काम करने के बाद ब्रिगेडियर के पद पर सेवानिवृत हुए। शीमा के पिता ने 1949 में भारत आकर निकाह किया और फिर करांची में बस गए।

शीमा अपने माता-पिता की मंझली संतान हैं। अपने पिता की नौकरी और माता के परिवार के भारत में बसे होने के कारण शुरूआत से ही शीमा को भारत और पाकिस्तान के लोगों संस्कृति और तहज़ीब से अच्छा परिचय रहा। अपनी हैदराबाद की यात्रा के दौरान ही उनकी पहचान भारतीय शास्त्रीय नृत्य-संगीत से हुई। उनके पिता को पश्चिमी शास्त्रीय संगीत का शौक था लिहाज़ा छोटी उम्र से ही शीमा का रूझान कला की ओर बन गया।

शीमा के माता-पिता ने भी नृत्य, संगीत, नाट्य कला के प्रति उनके लगाव को प्रोत्साहन दिया। अपने सफ़र के दौरान पूरा परिवार नई-नई जगहों पर स्थित म्यूज़ियम, नाट्य कार्यक्रमों और कला केन्द्रों के बारे में जानता और कार्यक्रमों का लुत्फ़ उठाता। अपने बचपन की इन्हीं खुशनुमा यादों को शीमा ने अपनी परवरिश और तालीम का अभिन्न हिस्सा माना है।

अपने बढ़ते हुए सालों में शीमा को खेलकूद में कोई दिलचस्पी नहीं थी। चूंकि वे एक तंदरुस्त लड़की थीं लिहाज़ा उनकी मां ने वज़न कम करने के इरादे से उन्हें नृत्य कक्षाओं में भेजना शुरू कर दिया। अपनी पढ़ाई पूरी करने के लिए शीमा विदेश भी गईं जहां कला के प्रति उनकी लगन बरकरार रही। पाकिस्तान वापस लौटने पर उन्होंने गंभीरता से नृत्य का प्रशिक्षण लेना शुरू किया जिसके लिए वे भारत आईं।

उस दौरान पाकिस्तान का राजनैतिक माहौल महिलाओं के पक्ष में नहीं था। जनरल जिआ-उल-हक़ ने शास्त्रीय नृत्य पर पाबंदी लगा दी थी और कई इस्लामी महिला-विरोधी क़ानून भी लागू कर दिए थे। इसी के चलते अपरम्परागत

और विद्रोही सोच वाली शीमा किरमानी ने नृत्य को अपना पेशा बनाने का फ़ैसला कर लिया।

अपने कॉलेज के दिनों से ही शीमा को पढ़ने और वाद-विवाद करने का शौक था। मार्क्सवादी सिद्धांतों और नारीवाद के प्रभाव के कारण उनकी सोच और नज़रिया समानता, भेदभाव रहित और शोषण से मुक्त माहौल में रहने और काम करने के लिए प्रेरित कर रहा था। 1970 में उन्होंने *तहरीक़-ए-निस्वां* यानी 'औरतों का आन्दोलन' नाम की एक संस्था की शुरूआत की। *तहरीक़* एक सांस्कृतिक समूह के रूप में काम करती है और महिला अधिकार, मानवाधिकार, अमन के ज़रिए औरतों के जीवन को बेहतर बनाने की दिशा में अपना योगदान देती है।

तहरीक़ के सदस्यों का मानना है कि महिलाओं का आंदोलन एक सांस्कृतिक संघर्ष है जिसे आगे ले जाने के लिए सांस्कृतिक माध्यमों का इस्तेमाल करते हुए धार्मिक कट्टरवाद और रूढ़िवादिता को चुनौती देनी होगी। महिलाओं और पुरुषों के बीच बराबरी लाने के लिए मौजूदा मूल्यों और सत्ता संबंधों में बदलाव लाना होगा जिसके लिए कला और कविता से लोगों के दिलों तक पहुंचना ज़रूरी है। *तहरीक़* के कार्यकर्ता इस सोच का अनुसरण करते हुए कला और कविता के माध्यम से अपने समान हक़ों के संदेश लोगों तक पहुंचाते हैं।

इस तरह शीमा किरमानी का नृत्य और नाट्य के लिए जुनून महिला आंदोलन और न्याय के संघर्ष को अहम हिस्सा बन गया है। उनका मानना है कि कला के बिना राजनीति मुमकिन नहीं है।

सभी फ़ोटो- शीमा किरमानी

शास्त्रीय नृत्य की मुद्रा

अपनी कला के बारे में शीमा का मत है कि नृत्य एक ऐसा खूबसूरत माध्यम है जो व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर सदभाव और प्यार लाने को ताक़त रखता है। वे कहती हैं— "मेरे ख़याल से पाकिस्तान में बढ़ती हिंसा का कारण यह है कि युवाओं के पास अपनी अभिव्यक्ति के कोई तरीक़े मौजूद नहीं हैं। नृत्य एक बेहद सशक्त माध्यम है क्योंकि उसमें सच्चाई की ताक़त निहित है। जब एक औरत आत्म-विश्वास और गरिमा के साथ स्टेज पर खड़ी होती है तो वह सबको कह रही है कि मुझे तुमसे कोई खौफ़ नहीं है, मैं अपने शरीर पर फ़क्र करती हूं। यह वो ताक़त का जज़्बा है जिसके सरकारें डरती हैं और इसलिए वे नृत्य को पसंद नहीं करते और मैंने इस वजह से नृत्यकला का चुनाव किया है।"

पाकिस्तान में कला और औरतें दोनों ही सैन्य तानाशाही का शिकार हुए हैं। राज्य द्वारा बनाए गए क़ानूनों में औरतों की यौनिकता और नैतिकता पर अंकुश लगाए हैं। राजकीय पक्ष औरतों के लिबास, उनकी आवाजाही, उनकी यौनिकता और सार्वजनिक जगहों पर उनकी मौजूदगी पर नज़रें गढ़ाए रहते हैं। धर्म के नाम पर बनाए *हुदूद अधिनियम* और *व्यभिचार क़ानून* औरतों को कमतर और दोयम दर्जा प्रदान करते हैं। इन क़ानूनों में दो औरतों की गवाही एक पुरुष की गवाही के बराबर मानी जाती है। कुछ क़ानूनों में तो औरत को गवाही देने का अधिकार ही नहीं है।

इस परिप्रेक्ष्य में शीमा किरमानी और उनके जैसी तमाम औरतें अपने काम के ज़रिए इन अन्यायी क़ानूनों की मुखालफ़त कर रही हैं। उनका मानना है कि पाकिस्तानी समाज में औरतों के दर्जे को बेहतर बनाने के लिए समाज और राज्य की सोच और नज़रिए में बुनियादी बदलाव लाना ज़रूरी है और यह काम संस्कृति और कला को बेहतर बनाकर ही किया जा सकता है।

शीमा किरमानी *पाकिस्तान की मशहूर नृत्यांगना, कार्यकर्ता और शिक्षिका हैं। यह लेख शीमा ने खुद लिखा है।*

कहानी

दो कलाकार

मन्नू भंडारी

"ऐ रूनी उठ", और चादर खींचकर चित्रा ने सोती हुई अरुणा को झकझोर कर उठा दिया।

"क्या है... क्यों परेशान कर रही है?" आंख मलते हुए तनिक खिझलाहट-भरे स्वर में अरुणा ने पूछा। चित्रा उसका हाथ पकड़कर खींचती हुई ले गई और अपने नए बनाए हुए चित्र के सामने ले जाकर खड़ा करके बोली— "देख, मेरा चित्र पूरा हो गया।"

"ओह! तो इसे दिखाने के लिए तूने मेरी नींद ख़राब कर दी। बद्तमीज़ कहीं की!"

"इस चित्र को ज़रा आंख खोलकर अच्छी तरह तो देख। न पा गई पहला इनाम तो नाम बदल देना।" चित्र को चारों ओर से घुमाते हुए अरुणा बोली, "किधर से देखूं, यह तो बता दे? हज़ार बार तुझसे कहा कि जिसका चित्र बनाए उसका नाम लिख दिया कर जिससे ग़लतफ़हमी न हुआ करे, वरना तू बनाए हाथी और हम समझें उल्लू।" फिर तस्वीर पर आंख गड़ाते हुए बोली, "किसी तरह नहीं समझ पा रही हूं कि चौरासी लाख योनियों में से आख़िर यह किस जीव की तस्वीर है?"

"तो आपको यह कोई जीव नज़र आ रहा है? अरे, ज़रा अच्छी तरह देख और समझने की कोशिश कर।"

"यह क्या? इसमें तो सड़क, आदमी, ट्राम, बस, मोटर, मकान—सब एक-दूसरे पर चढ़ रहे हैं, मानो सबकी खिचड़ी पकाकर रख दी हो। क्या घनचक्कर बनाया है?" और उसने वह चित्र रख दिया।

"ज़रा सोचकर बता कि यह किसका प्रतीक है?"

"तेरी बेवकूफ़ी का। आई है बड़ी प्रतीक वाली।"

"ज़रा-सा दिमाग़ लगाने की कोशिश करेगी तो समझ में आ जाएगा कि यह चित्र आज की दुनिया के कन्फ्यूज़न का प्रतीक है। बस हां, थोड़ा दिमाग होना ज़रूरी है।" चित्रा ने चुटकी ली तो अरुणा भभक उठी—

"मुझे तो तेरे दिमाग़ के कन्फ्यूज़न का प्रतीक नज़र आ रहा है। बिना मतलब ज़िन्दगी ख़राब कर रही है।" और अरुणा मुंह धोने के लिए बाहर चली गई। लौटी तो देखा तीन-चार बच्चे उसके कमरे के दरवाज़े पर खड़े उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आते ही बोले, "दीदी! सब बच्चे आकर बैठ गए, चलिए।"

"आ गए सब बच्चे? अच्छा चलो, मैं अभी आई।" बच्चे दौड़ पड़े।

"क्या ये बन्दर पाल रख हैं तूने भी?" फिर ज़रा हंसकर चित्रा बोली, "एक दिन तेरी पाठशाला का चित्र बनाना होगा। ज़रा लोगों को दिखाया ही करेंगे कि हमारी एक ऐसी मित्र साहिब थीं जो सारे जमादार, दाइयों और चपरासियों के बच्चों को पढ़ा-पढ़ाकर ही अपने को भारी पंडिता और समाज-सेविका समझती थीं।"

"जा-जा, समझते हैं तो समझते हैं। तू जाकर सारी दुनिया में ढिंढोरा पीटना, हमें कोई शरम है क्या? तेरी तरह लकीरें खींचकर तो समय बर्बाद नहीं करते।" और पैर में चप्पल डालकर वह बाहर मैदान में चली गई, जहां बिना किसी आयोजन के ही एक छोटी-सी पाठशाला बनी हुई थी।

रात के दस बजे थे। सारे हॉस्टल की बत्तियां नियमानुसार बुझ चुकी थीं। ऊपर के एक तल्ले पर अंधेरे में ही खुसुर-फुसुर चल रही थी। रविवार के दिन तो यों ही छुट्टी का मूड रहता है। दूसरे दिन में काफी नींद निकाल ली जाती थी, सो दस बजे लड़कियों को किसी तरह भी नींद नहीं आती थी। तभी हॉस्टल के फाटक में जलती हुई टॉर्च लिए कोई घुसा। अपने कमरे की खिड़की में से झांकते हुए सविता ने कहा, "ठाठ तो हॉस्टल में बस अरुणा ही के हैं, रात नौ बजे लौटो, दस बजे लौटो, कोई बन्धन नहीं। हम लोग तो दस के बाद बत्ती भी नहीं जला सकते।"

"लौट आई अरुणा दी? आज सवेरे से ही वे बड़ी परेशान थीं। फुलिया दाई का बच्चा बड़ा बीमार था, दोपहर से वे उसी के यहां बैठी थीं। पता नहीं, क्या हुआ बेचारे का?" शीला ने ठंडी सांस भरते हुए कहा।

"तू बड़ी भक्त है अरुणा दी की!"

"उनके जैसे गुण अपना ले तेरी भी भक्त हो जाऊंगी।"

"मैं कहती हूं, उन्हें यही सब करना है तो कहीं और रहें, हॉस्टल में रहकर यह जो नवाबी चलाती हैं, सो तो हमसे बर्दाश्त नहीं होती। सारी लड़कियां डरती हैं तो कुछ कहती नहीं, पर प्रिंसिपल और वार्डन तक रोब खाती हैं इनका, तभी तो सब प्रकार की छूट दे रखी है।"

"तू भी जिस दिन हाड़ तोड़कर दूसरों के लिए यों परिश्रम करने लग जाएगी न, उस दिन तेरा भी सब रोब खाने लगेंगे। पर तुम्हें तो सजने-संवरने से ही फुर्सत नहीं मिलती, दूसरों के लिए क्या ख़ाक काम करोगी।"

"अच्छा-अच्छा चल, अपना लैक्चर अपने पास रख।"

अरुणा अपने कमरे में घुसी तो बहुत ही धीरे-से, जिससे चित्रा की नींद न ख़राब हो। पर चित्रा जग ही रही थी। दोपहर से अरुणा बिना खाए-पीए बाहर थी, उसे नींद कैसी आती भला? मेस से उसका खाना लाकर उसे मेज़ पर ढककर रख दिया था। अरुणा के आते ही वह उठ बैठी और पूछा, "बड़ी देर लग गई, क्या हुआ रूनी!"

"वह बच्चा नहीं बचा चित्रा। किसी तरह उसे नहीं बचा सके।" और उसका स्वर किसी गहरे दुःख में डूब गया।

चित्रा ने माचिस लेकर लैम्प जलाया और स्टोव जलाने लगी खाना गरम करने के लिए। तभी अरुणा ने कहा, "रहने दे चित्रा मैं खाऊंगी नहीं, मुझे ज़रा-भी भूख नहीं है।" और उसकी आंखें फिर छलछला आईं।

बहुत ही स्नेह से अरुणा की पीठ थपथपाते हुए चित्रा ने कहा, "जो होना था सो हो गया, अब भूखे रहने से क्या होगा, थोड़ा-बहुत खा ले।"

"नहीं चित्रा, अब रहने दे, बस तू लैम्प बुझा दे।"

उसके बाद दो-तीन दिन तक अरुणा बहुत ही उदास रही, लेकिन समय के साथ-साथ यह ग़म भी जाता रहा, और सब काम ज्यों-का-त्यों चलने लगा।

चार बजते ही कॉलेज से सारी लड़कियां लौट आईं, पर अरुणा नहीं लौटी। चित्रा चाय के लिए उसकी प्रतिक्षा कर रही थी "पता नहीं कहां-कहां अटक जाती है, बस इसके पीछे बैठे रहा करो।"

"अरे, क्यों बड़-बड़ कर रही है। ले मैं आ गई। चल, बना चाय।"

"तेरे मनोज की चिट्ठी आई है।"

"कहां, तूने तो पढ़ ही ली होगी फाड़कर।"

"चल हट, ऐसी बोर चिट्ठियां पढ़ने का फालतू समय किसके पास है? तुम्हारी चिट्ठियों में रहता ही क्या है जो कोई पढ़े। बड़े-बड़े आदर्श की बातें, मानो ख़त न हुआ लैक्चर हुआ।""अच्छा-अच्छा, तू लिखा करना रसभरी चिट्ठियां, हमें तो वह सब आता नहीं।" वह लिफ़ाफ़ा फाड़कर पत्र पढ़ने लगी। जब उसका पत्र समाप्त हो गया तो चित्रा बोली, "आज पिताजी का भी पत्र आया है, लिखा है जैसे ही यहां का कोर्स समाप्त हो जाए, मैं विदेश जा सकती हूं। मैं जानती थी, पिताजी कभी मना नहीं करेंगे।"

"हां भाई! धनी पिता की इकलौती बिटिया ठहरी! तेरी इच्छा कभी टाली जा सकती है। पर सच कहती हूं, मुझे तो यह सारी कला इतनी निरर्थक लगती है, इतनी बेमतलब लगती है कि बता नहीं सकती किस काम की ऐसी कला जो आदमी को आदमी न रहने दे।"

"तो तू मुझे आदमी नहीं समझती, क्यों?"

"तुझे दुनिया से कोई मतलब नहीं, दूसरों से कोई मतलब नहीं, बस चौबीस घंटे अपने रंग और तूलियों में डूबी रहती है।

दुनिया में बड़ी-से-बड़ी घटना घट जाए, पर यदि उनमें तेरे चित्र के लिए कोई आइडिया न हो तो तेरे लिए वह घटना कोई महत्व नहीं रखती। बस, हर घड़ी, हर जगह और हर चीज़ में से तू अपने चित्रों के लिए मॉडल खोजा करती है।"

"मेरी इस लगन को देखकर ही तो गुरुजी कहते हैं कि वह समय दूर नहीं, जब हिन्दुस्तान के कोने-कोने में मेरी शोहरत गूंज उठेगी। अमृता शेरगिल की तरह मेरा भी नाम गूंज उठे, बस यही तमन्ना है।"

"कागज़ पर इन निर्जीव चित्रों को बनाने की बजाए दो-चार की ज़िन्दगी क्यों नहीं बना देती, तेरे पास सामर्थ्य है, साधन हैं।"

"वह काम तो तेरे और मनोज के लिए छोड़ दिया है। तुम दोनों ब्याह कर लो और फिर जल्दी से सारी दुनिया का कल्याण करने के लिए झंडा लेकर निकल पड़ना!" और चित्रा हंस पड़ी। फिर बोली—

"अच्छा, यह बता कि तेरे यह सब करने से ही क्या हो जाएगा? तूने अपनी अनोखी पाठशाला में दस-बीस बच्चे पढ़ा दिए, तो क्या निरक्षरता मिट जाएगी, या झोंपड़ी में दस-बीस औरतों को हुनर सिखाकर कुछ कमाने लायक बना दिया तो उससे गरीबी मिट जाएगी? अरे, यह सब काम एक के लिए होते नहीं। जब तक समाज का सारा ढांचा नहीं बदलता तब तक कुछ होने का नहीं, और ढांचा ही बदल गया तो तेरे-मेरे कुछ करने की ज़रूरत नहीं, सब अपने-आप ही हो जाएगा।"

फिर दोनों में कला और जीवन को लेकर लम्बी-लम्बी बहसें होती और चित्रा अन्त में कान पर हाथ धरकर उठ जाती, "अच्छा-अच्छा, बन्द कर यह लेक्चरबाज़ी बोर कहीं की!" यह पिछले पांच वर्षों से इसी प्रकार चल रहा था। हर दस-बीस दिन बाद दोनों में अपने-अपने उद्देश्यों को लेकर, अपनी-अपनी दिनचर्या को लेकर एक गरमा-गरम बहस हो ही जाती, पर न वह उसकी बात को लोहा मानती थी, न वह उसकी बात की कायल होती थी।

तीन दिन से मूसलाधार वर्षा हो रही थी। रोज़ अख़बारों में बाढ़ की ख़बरें आती थीं। बाढ़-पीड़ितों की दशा बिगड़ती जा रही थी, और वर्षा थी कि थमने का नाम ही नहीं लेती थी। अरुणा सारे दिन चन्दा इकट्ठा करने में व्यस्त रहती। एक दिन आख़िर चित्रा ने कह ही दिया, "तेरे इम्तिहान सर पर आ रहे हैं, कुछ पढ़ती-लिखती तू है नहीं, सारे दिन बस भटकती रहती है। फेल हो गई तो तेरे ससुर साहब क्या सोचेंगे कि इतना पैसा बेकार ही पानी में बहाया।"

"आज शाम को एक स्वयं सेवकों का दल जा रहा है, प्रिंसिपल से अनुमति ले ली, मैं भी उनके साथ जा रही हूं।" चित्रा की बात को बिना सुने उसने कहा।

शाम को अरुणा चली गई। पन्द्रह दिन बाद वह लौटी तो उसकी हालत काफ़ी ख़स्ता हो रही थी। सूरत ऐसी निकल आई थी मानो छः महीने से बीमार हो। चित्रा उस समय अपने गुरुदेव के पास गई हुई थी। अरुणा नहा-धोकर, खा-पीकर लेटने लगी, तभी उसकी नज़र चित्रा के नए चित्रों की ओर गई। तीन चित्र बने रखे थे, तीनों बाढ़ के चित्र थे। जो दृश्य वह अपनी आंखों से देखकर आ रही थी, वैसे ही दृश्य यहां भी अंकित थे। उसका मन जाने कैसा-कैसा हो आया। वहां लोगों के जीने के लाले पड़ रहे हैं और उसमें भी इसे चित्रकारी ही सूझती है और न जाने कितनी बातें सोचते-सोचते वह सो गई।

शाम को चित्रा तो अरुणा को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। "गनीमत है, तू लौट आई। मैं तो सोच रही थी कि कहीं तू बाढ़-पीड़ितों की सेवा करती ही रह जाए और मैं जाने से पहले तुझसे मिल भी न पाऊं।"

"क्यों, तेरा जाने का तय हो गया?"

"हां, अगले बुध को मैं घर जाऊंगी और बस एक सप्ताह बाद हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर पहुंच जाऊंगी।" उल्लास उसके स्वर में छलका पड़ रहा था।

"सच कह रही है, तू चली जाएगी चित्रा! छः साल से तेरे साथ रहते-रहते यह बात ही मैं तो भूल गई कि हमको अलग भी होना पड़ेगा। तू चली जाएगी तो मैं कैसे रहूंगी?"

"अरे, दो महीने बाद शादी कर लेगी, फिर याद भी न रहेगा कि कौन कम्बख़्त थी चित्रा! बड़ी लालसा थी तेरी शादी में आने की, पर अब तो आ नहीं सकूंगी। अच्छी तरह शादी करना, दोनों मिलकर सारे समाज का और सारे संसार का कल्याण करना।"

पर अरुणा के कानों में उसकी कोई बात नहीं पड़ रही थी। चित्रा के साथ बिताए हुए पिछले छः सालों के चित्र उसकी आंखों के सामने घूम रहे थे और वह उन्हीं में खोई बैठी रही।

"क्या सोचने लगी रूनी! मनोज की याद आ गई क्या?"

"चल हट! हर समय का मज़ाक अच्छा नहीं लगता।"

उस दिन रात में भी अरुणा अपने और चित्रा के बारे में ही सोचती ही। दोनों के आचार-विचार, रहन-सहन, रुचि आदि में ज़मीन-आसमान का अन्तर था, फिर भी कितना स्नेह था दोनों में। सारा हॉस्टल उनकी मित्रता ईर्ष्या की नज़र से देखता था। जब उसके बी.ए. के इम्तिहान थे तो चित्रा कितना ख़याल रखती थीं उसका। वह अक्सर चित्रा को डांट दिया करती थी, पर कभी उसने बुरा नहीं माना। यही चित्रा अब चली जाएगी—बहुत-बहुत दूर। ये दो महीने भी कैसे निकालेगी? और यही सब सोचते-सोचते उसे नींद आ गई।

आज चित्रा को जाना था। हॉस्टल से उसे बड़ी शानदार विदाई मिली थी। अरुणा सवेरे से ही उसका सारा सामान ठीक कर रही थी। एक-एक करके चित्रा सबसे मिल आई। बस गुरुजी के घर की तरफ चल पड़ी। तीन बज गए, पर वह लौटी नहीं। अरुणा उसका सारा काम समाप्त करके उसकी राह देख रही थी और भी कई लड़कियां वहां जमा थीं, कुछ बार-बार आकर पूछ जाती थीं, चित्रा लौटी या नहीं? पांच बजे की गाड़ी से वह जाने वाली है। अरुणा ने सोचा, वह खुद जाकर देख आए कि आख़िर बात क्या हो गई। तभी हड़बड़ाती-सी चित्रा ने प्रवेश किया, "बड़ी देर हो गई ना! अरे क्या करूं, बस, कुछ ऐसा हो गया कि रुकना ही पड़ा।"

"आख़िर क्या हो गया ऐसा, जो रुकना ही पड़ा, सुनें तो।" दो-तीन कंठ एक साथ बोले।

"गर्ग-स्टोर के सामने पेड़ के नीचे अक्सर एक भिखारिन बैठी रहा करती थी ना, लौटी तो देखा कि वह वहीं मरी पड़ी है और उसके दोनों बच्चे उसके सूखे शरीर से चिपकर बुरी तरह रो रहे हैं। जाने क्या था उस सारे दृश्य में, मैं अपने को रोक नहीं सकी— एक रफ़-सा स्केच बना ही डाला। बस, इसी में इतनी देर हो गई।" चर्चा इसी पर चल पड़ी, "कैसे मर गई, कल तो उसे देखा था।" किसी ने दार्शनिक की मुद्रा में कहा, "अरे, ज़िंदगी का क्या भरोसा, मौत कहकर थोड़े आती है।" आदि-आदि। पर इस सारी चर्चा से अरुणा कब खिसक गई, कोई जान ही नहीं पाया।

साढ़े चार बजे चित्रा हॉस्टल के फाटक पर आ गई, पर तब तक अरुणा का कहीं पता नहीं था। बहुत सारी लड़कियां उसे छोड़ने को स्टेशन आईं, पर चित्रा की आंखें बराबर अरुणा को ढूंढ़ रही थीं। उसे दृढ़ विश्वास था कि वह इस विदाई की बेला में उससे मिलने ज़रूर आएगी। पांच भी बज गए, रेल चल पड़ी, अनेक रूमालों ने हिल-हिलाकर चित्रा को विदाई दी, पर उसकी आंसू भरी आंखें किसी और को ही ढूंढ़ रही थीं—पर अरुणा न आई, सो न आई।

विदेश जाकर चित्रा तन-मन से अपने काम में जुट गई। उसकी लगन ने उसकी कला को निखार दिया। विदेशों में उसके चित्रों की धूम मच गई। भिखमंगी और दो अनाथ बच्चों के उस चित्र की प्रशंसा में तो अख़बारों के कॉलम-के-कॉलम भर गए। शोहरत के ऊंचे कगार पर बैठ, चित्रा जैसे अपना पिछला सब कुछ भूल गईं। पहले वर्ष तो अरुणा से पत्र-व्यवहार बड़े नियमित रूप से चला, फिर कम होते-होते एकदम बन्द हो गया। पिछले एक साल से तो उसे यह भी नहीं मालूम कि वह कहां है। नई कल्पनाएं और नए-नए विचार उसे नवीन सृजन की प्रेरणा देते और वह उन्हीं में खोई रहती। उसके चित्रों की प्रदर्शनियां होतीं। अनेक प्रतियोगिताओं में उसको 'अनाथ' शीर्षक वाला चित्र प्रथम पुरस्कार पा चुका था। उस चित्र में, जो देखता, वही चकित रह जाता। दुःख दारिद्रय और करुणा जैसे साकार हो उठे थे। तीन साल बाद जब वह भारत लौटी तो बड़ा स्वागत हुआ उसका। अख़बारों में उसकी कला पर, उसके जीवन पर अनेक लेख छपे। पिता अपनी इकलौती बिटिया की इस कामयाबी पर गद्‌गद्‌ थे— समझ नहीं पा रहे थे कि उसे कहां उठाएं, कहां बिठाएं। दिल्ली में उसके चित्रों की प्रदर्शनी का विराट आयोजन किया गया। उद्‌घाटन करने के लिए उसे ही बुलाया गया था। उस प्रदर्शनी को देखने के लिए जनता उमड़ पड़ी थी, भूरि-भूरि प्रशंसा हो रही थी और चित्रा को लग रहा था, जैसे उसके सपने साकार हो गए।

उस भीड़-भाड़ की उपस्थिति को भूलकर अरुणा के गले से लिपट गई। “तुझे कब से चित्र देखने का शौक हो गया रूनी।”

“चित्रों को नहीं, चित्रा को देखने आई थी। तू तो एकदम भूल ही गई।”

“ये बच्चे किसके हैं?” दो प्यारे से बच्चे अरुणा से सटे खड़े थे। लड़के की उम्र कोई आठ साल की होगी शायद तो लड़की पांच के आस-पास की होगी।

“मेरे बच्चे हैं, और किसके! ये तुम्हारी चित्रा मासी हैं, नमस्ते करो अपनी मासी को।” अरुणा ने आदेश दिया।

बच्चों ने बड़ी अदा से नमस्ते किया। पर चित्रा अवाक् होकर कभी उनका और कभी अरुणा का मुंह देख रही थी। वह सारी बात का कुछ तुक नहीं मिला पा रही थी। तभी अरुणा ने टोका, “कैसी मासी है, प्यार तो कर।” और चित्रा ने दोनों के सिर पर हाथ फेरा। प्यार का जरा-सा सहारा पाकर लड़की चित्रा की गोदी में जा चढ़ी। अरुणा ने कहा, “तुम्हारी ये मासी बहुत अच्छी तस्वीरें बनाती हैं, ये सारी तस्वीरें इन्ही की बनाई हुई हैं।”

“सच?” आश्चर्य से बच्ची बोल पड़ी। “तब तो मासी, तुम ज़रूर ड्राइंग में फर्स्ट आती होओगी। मैं भी अपनी क्लास में फर्स्ट आती हूं— तुम हमारे घर आओगी तो अपनी कॉपी दिखाऊंगी।” बच्ची के स्वर में मुकाबले की भावना थी। चित्रा और अरुणा इस बात पर हंस पड़ीं।

“आप हमें सब तस्वीरें दिखाइए मासी, समझा-समझाकर।” बच्चे ने फ़रमाइश की। चित्रा समझाती तो क्या, यों ही तस्वीरें दिखाने लगी। घूमते-घूमते वे उसी भिखारिनी वाली तस्वीर के सामने आ पहुंचे। चित्रा ने कहा, “यही वह तस्वीर है रूनी, जिसने मुझे इतनी प्रसिद्धि दी।”

“ये बच्चे रो क्यों रहे हैं मासी?” तस्वीर को ध्यान से देखकर बालिका ने कहा।

“इनकी मां मर गई, देखती नहीं मरी पड़ी है। इतना ही नहीं समझती!” बालक ने मौका पाते ही अपने बड़प्पन की छाप लगाई।

“ये सचमुच के बच्चे थे मासी?” बालिका का स्वर करुण-से-करुणतर होता जा रहा था।

“और क्या, सचमुच के बच्चों को देखकर ही तो बनाई थी यह तस्वीर।”

“हाय राम! इसकी मां मर गई तो फिर इन बच्चों का क्या हुआ?” बालक ने पूछा।

“मासी, हमें ऐसी तस्वीर नहीं, अच्छी-अच्छी तस्वीरें दिखाओ, राजा, रानी की, परियों की—” उस तस्वीर को और अधिक देर तक देखना बच्ची के लिए असह्य हो उठा था। तभी अरुणा के पति आ पहुंचे। परिचय हुआ। साधारण बातचीत के पश्चात अरुणा ने दोनों बच्चों को उनके हवाले करते हुए कहा, “आप ज़रा बच्चों को प्रदर्शनी दिखाइए, मैं चित्रा को लेकर घर चलती हूं।”

बच्चे इच्छा न रहते हुए भी पिता के साथ विदा हुए। चित्रा को दोनों बच्चे बड़े ही प्यारे लगे। वह उन्हें एकटक देखती रही। जैसे ही वे आंखों से ओझल हुए उसने पूछा, “सच-सच बता रूनी! ये प्यारे-प्यारे बच्चे किसके हैं?”

“कहा तो, मेरे।” अरुणा ने हंसते हुए कहा।

“अरे, बताओ ना! मुझे ही बेवकूफ बनाने चली है।”

एक क्षण रुककर अरुणा ने पूछा, “बता दूं?” और फिर उस भिखारिन वाले चित्र के दोनों बच्चों पर अंगुली रखकर बोली, “ये ही वे दोनों बच्चे हैं।”

“क्याऽऽऽ!” विस्मय से चित्रा की आंखें फैली-की-फैली रह गईं।

“क्या सोच रही है चित्रा?”

“कुछ नहीं— मैं... मैं सोच रही थी कि...” पर शब्द शायद उसके विचारों में ही खो गए।

मन्नू भंडारी *हिन्दी साहित्य जगत की वरिष्ठ कहानीकार व लेखिका हैं।*

संवाद

ऐनी चोइंगा ड्रोल्मा-द सिंगिंग नन

बीरेश प्रताप सिंघा एवं प्रतिवा श्रेष्ठा

रिकॉर्डिंग के दौरान ऐनी

फुलको आंखामा, फूलई संसारा
कांडा को आंखामा, कांडई संसारा
झुलखिनछा है छायां, वस्तु अन्सारा
(फूल की दृष्टि में संसार फूल स्वरूप है, कांटे की दृष्टि में संसार कांटे जैसा है
जितना बड़ा जिसका आकार होता है उसकी छाया उतनी ही लम्बी होती है।)

4 जून 1971 को काठमांडू, नेपाल में तिब्बती शरणार्थी परिवार में जन्मी बच्ची के भविष्य का क्या होगा कोई नहीं जानता था। कम उम्र में घर से भाग कर उसे एक बौद्ध मठ में शरण मिली जहां वह बौद्ध साध्वी बनी और तेरह वर्ष की उम्र में गाने लगी। बाद में एक अमरीकी गिटार वादक के साथ मिल कर उसने अपने गीतों का एल्बम निकाला जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सराहा गया। अब तक उसके अनेक एल्बम निकल चुके हैं। पूरे विश्व में अपने कार्यक्रम पेश कर चुकी है। साध्वियों के लिए एक स्कूल खोला है। वह अनेक मानवतापूर्ण गतिविधियों से जुड़ी रही है और अब भी जुड़ी है। उसकी आत्मकथा "सिंगिग फ़ॉर फ्रीडम" ग्यारह भाषाओं में छप चुकी है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप से सर्वाधिक बिकाऊ किताब माना गया है। वह नेपाल मे यूनेस्को की सद्भावना दूत है। उसका नाम है— ऐनी चोइंग ड्रोल्मा।

ऐनी का बचपन संघर्षों में बीता और उसमें ऐसा कुछ नहीं था जिसे वह याद रखना चाहे। उसका बाप रोज़ उसे पीटता था और वह बेबस थी। हर दिन उसकी सहनशक्ति की परीक्षा होती थी और उस दिन वह सीमा ख़त्म हो गई जब उसके बाप ने उसे चाकू से घायल कर दिया। ड्रोल्मा घर से भाग गई। सौभाग्य से वह एक बौद्ध मठ में पहुंची जहां उसे आश्रय और अपनापन मिला। यहां उसने जीवन को फिर से अपनाना सीखा। उसमें नई आशा और जीने की चाह पैदा हुई। नागी गोम्पा साध्वी मठ में रहते हुए उसे गाने की इच्छा हुई और प्रशिक्षण मिला। तेरह वर्ष की आयु में गायन की औपचारिक शिक्षा शुरू हुई।

जब ड्रोल्मा किशोरावस्था में थी तब मठ में उसके गुरू प्रसिद्ध तुल्कु उर्ग्येन से शिक्षा लेने प्रायः अनेक विदेशी भी आते थे। ऐनी चोइंगा ड्रोल्मा को वे लोग ऐनी चुइंग गम बुलाते थे। उन्होंने उसे न सिर्फ़ अंग्रेज़ी भाषा सिखाई बल्कि पश्चिमी संगीत, विशेषतः 'ब्लूज़' से परिचित कराया।

> **साध्वी मठ के मेरे शुरूआती दिनो में मैं काफ़ी उद्दण्ड थी, दिल और दिमाग में नकारात्मकता थी। मैं हमेशा अपने आपको बचाना चाहती थी जिसका अर्थ था गुस्सा होना या झगड़ा करना। लेकिन धीरे धीरे यह सब बदल गया।**
>
> ***– ऐनी चोइंगा ड्रोल्मा***

एक बार जब ऐनी अपनी प्रार्थना गा रही थी तो वहां एक युवक को उसकी आवाज़ बहुत अच्छी लगी। वह युवक था, गिटार वादक बनने का इच्छुक अमरीकी स्टीव टिबेट्स। वह ऐनी की प्रतिभा से चकित रह गया। उसने ऐनी की आवाज़ रिकॉर्ड की और प्रसिद्ध संगीतकार जो बॉयड को भेज दी। टिबेट्स की तरह बॉयड ने भी ऐनी की प्रतिभा को सराहा। टिबेट्स जब काठमाण्डू पहुंचा तो उसने ऐनी के साथ एक एल्बम बनाने का फ़ैसला किया। 1997 में उन दोनों ने मिलकर एक एल्बम 'चो' रिकॉर्ड और वितरित किया। इस एल्बम को सर्वाधिक बिकाऊ एल्बम माना गया। उसके बाद से ऐनी ने मुड़कर नहीं देखा और कितने ही गीत रिकॉर्ड किए जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय हुए। उसके जीवन ने अब एक सकारात्मक मोड़ ले लिया था।

एक वर्ष बाद, दो अन्य साध्वियों और स्टीव टिबेट्स के साथ ड्रोल्मा ने अमरीका का संगीतमय दौरा किया जहां उन्होंने नॉर्थम्पटन में अपना पहला 'लाइव' संगीत

कार्यक्रम प्रस्तुत किया। हालांकि कुछ तकनीकी खामियों की वजह से वह उतना अच्छा नहीं हो पाया जितना सोचा था। ऐनी तथा अन्य साध्वियां तेज़ रोशनियों में इतने लोगों के सामने गाने की आदी नहीं थीं। टिबेट्स ने बताया कि "हमारे पहले कार्यक्रम में बहुत से गाने साज़िन्दों के संगीत के साथ शुरू होते थे और अंत केवल गायिकाओं की आवाज़ से होता। मेरा विचार है कि कार्यक्रम पूरी तरह असफल नहीं तो मुश्किल ज़रूर रहा। लेकिन अच्छी बात यह थी कि दर्शकों/श्रोताओं को ऐसा नहीं लगा। कार्यक्रम के बाद लोगों ने ऐनी को घेर लिया।"

ऐसा भी नहीं है कि ऐनी को हमेशा प्यार और प्रशंसा ही मिली हो। जब उसने सार्वजनिक रूप से मंच पर गाना शुरू किया तो बौद्ध मतावलम्बियों ने उसकी काफ़ी आलोचना की। हैरान, परेशान ऐनी सलाह के लिए अपने गुरू तुल्कु उर्ग्येन के पास पहुंची।

वह कहती है "मैंने सोच लिया था कि यदि वे कहेंगे कि यह सब ठीक नहीं है तो मैं बिल्कुल नहीं करूंगी परंतु उनकी प्रतिक्रिया बहुत सकारात्मक थी। उन्होंने कहा 'जो तुम गाती हो वे मंत्र बड़े सशक्त हैं। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि सुनने वाले उनमें विश्वास करते हैं या नहीं। जो कोई उन्हें सुनेगा उसे लाभ होगा।' बस मेरे दिल के लिए उनका यह कहना काफ़ी था और मैं आगे बढ़ने लगी।"

एक घटना इस प्रकार हुई— "बहुत समय पहले जब पहली बार मेरे पास टेप रिकॉर्डर आया तो मैं पश्चिमी संगीत सुनना चाहती थी। बाज़ार में केवल नेपाली और हिन्दी गाने मिलते थे। मैंने अपने गुरू जी के एक विदेश शिष्य से पूछा क्या वह मेरी मदद कर सकता है तो उसने मुझे बौनी रैत का कैसेट ला कर दिया।"

वर्षों बाद सैन फ्रांसिसको में कार्यक्रम के बाद एक महिला ऐनी के पास आई।

"जब मैंने उन महिला को अपनी ओर आते देखा तो मैं चकित रह गई। हे भगवान!" महिला ने मेरे पास आकर कहा "मै बौनी... हूं और तुम्हारी बड़ी प्रंशसक हूं।"

मैंने कहा "आप मज़ाक कर रही हैं, प्रशंसक तो मैं आपकी हूं।"

उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मैं उनसे परिचित हूं। उन्होंने अपने मित्रों को बुला कर कहा "कमाल है! यह मुझे जानती है।"

ऐनी का मानना है कि यदि समान अवसर मिलें तो साध्वियां भी इस संसार को और बेहतर बनाने की क़ाबलियत रखती हैं। ऐनी की एक शुरूआती और बहुत बड़ी उपलब्धि है *आर्य तारा स्कूल* जो सन् 2000 में खुला। इस स्कूल का उद्देश्य है हुनर तथा शिक्षा प्रदान करके साध्वियों को इस योग्य बनाना कि वे अपने समुदायों की मानवतापूर्ण ढंग से सेवा कर सकें। ऐनी का कहना है कि पारम्परिक रूप से एशिया में औरतों की शिक्षा को नज़रअंदाज़ किया जाता है। वह कहती हैं "मेरे मठ की अधिकतर लड़कियां ग्रामीण परिवेश की थीं और उनसे सिर्फ़ खाना पकाने, सफ़ाई करने और बच्चे पैदा करने की आशा की जाती थी।"

इस स्कूल में उन्हें साक्षरता, गणित और विज्ञान पढ़ाया जाता है। चिकित्सा पद्धति, रोगियों की देखरेख के अलावा उन्हें बौद्ध दर्शन की शिक्षा भी दी जाती है।

ऐनी, लड़कियों की शिक्षा, बूढ़ों की देखभाल, गरीब और बीमारों की सहायता व चिकित्सा के अतिरिक्त अनेक मानवतापूर्ण कामों से जुड़ी हैं। भारतीय राजनयिक तथा कवि अभय के सुझाव के चलते ऐनी ने हमारे ग्रह पृथ्वी के लिए एक औपचारिक वंदनगान की आवश्यकता का समर्थन किया है।

इस प्रकार ऐनी इस बात की मिसाल है कि साध्वियों में, इस संसार में प्रेम और शांति स्थापित करने की अन्दरूनी खूबी और प्रतिभा है।

ऐनी केवल एक गायिका नहीं हैं, उनके गीत केवल गाने के लिए नहीं हैं बल्कि उनके गीतों में सदेश होते हैं शांति, सकारात्मकता, समानता और जीवन मूल्यों के।

ऐनी सही मायनों में शांतिदूत हैं।

बीरेश प्रताप सिंघा *और* ***प्रतिवा श्रेष्ठा*** *नेपाल के महिला संगठन, स्त्री-शक्ति से जुड़े हैं।*

मूल अंग्रेज़ी से अनुवाद -वीणा शिवपुरी

सूफ़ी तबला कव्वाली की धुन

अमीना चिश्ती

"कब, क्यों, कैसे, कहां और खुद अपने आप से, अपनी खुदी की तलाश ने मुझे जीवन की उस कग़ार पर लाकर खड़ा कर दिया जहां मुझे उन तमाम चीज़ों को अलविदा कहना पड़ा जिन्हें मैं अब तक जीवन का सरमाया समझ रही थी। ज़िंदगानी की समझ बनाने की इस कोशिश में मैं इतनी रम गई कि मेरा वास्ता बस उन्हीं चीज़ों से रह गया जो मेरे दिन को सुकून दे रही थीं। मैं एक बंधी हुई नौकरी नहीं करना चाहती थी, अपनी स्कूल की पढ़ाई में दिल नहीं लगा पा रही थी। यहां तक कि अपने प्रिय खेल फुटबाल से भी मैं दूर हो गई थी। मेरे कदम अब उस रहस्यमयी और अनजानी डगर पर चल पड़े थे जहां डर की जगह विश्वास, दर्द की जगह शुक्रगुज़ारी और छीनने की जगह समर्पण ही मुझे भाने लगे थे। यही वो वक्त था जब मेरे जीवन का रुख ध्वनि के ज़रिए भक्ति की अभिव्यक्ति की ओर मुड़ गया। मेरे पास अब सुनने का वक्त था, ज़ेहन में एक सुकून था— मैं एक सूफ़ी बने लगी थी। हालांकि अब तक भी मैं दिल-दिमाग और आत्मा को राहत पहुंचाने में ध्वनि की शक्ति से अनजान थी। फिर भी सूफी फ़लसफ़ा मुझे रिझाने लगा था।

1900 के शुरूआती वर्षों में हज़रत इनायत ख़ान के फ़लसफ़े का भारत में काफ़ी बोल बाला था। हज़रत को चाहत थी कि वे लोगों की आत्मा को अमन, प्यार और सद्भाव की भावना से सराबोर कर दें। उनका मानना था कि आत्मा का जन्म एक अंधे कुएं में होता है और धीरे-धीरे हम अपनी अच्छाई से इस आत्मा की आंखें रोशन कर देते हैं।

हज़रत इनायत ख़ान की इसी सीख ने मुझे पहचान और इंसानियत का पाठ पढ़ाया। मैं खुद से और अपने आस-पास के लोगों के साथ एक सतत जीवन जीने के तरीक़े सीखने लगी। इन्हीं समान सोच रखने वाले साथियों ने मुझे मेरे शहर ओरेगॉन में बसे चिश्ती समुदाय से मिलवाया। यही मैंने इस्लाम धर्म को अपनाते हुए अपना नया नाम पाया-अमीना चिश्ती।

नए नाम के साथ जीवन की भी एक नई शुरुआत हुई। मैंने एक सादा जीवन अपनाकर कुछ पैसे बचाना शुरू कर दिया जिससे मैं भारत की यात्रा कर सकूं। पर सबसे पहले मैं ग़रीब नवाज़ हज़रत मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर ज़ियारत करना चाहती थी जिन्होंने हिन्दू मुसलमानों के बीच भाईचारे की बात की थी। उन्होंने अपने चेलों को नदी की तरह उदार, सूरज की तरह मुहब्बत बांटने और धरती की तरह मेहमान नवाज़ी विकसित करने की ताकीद की थी। ईरान से भारत आने वाली हज़ारों साल पुरानी इस सूफ़ी परम्परा की एक प्रमुख रवायत का नाम है 'समा' जिसके मायने हैं सुनना और याद करना। इस परम्परा शैली में

साथी तबला नवाज़ों के साथ अमीना

नाचना, गाना, वाद्य बजाना, कविता और कव्वाली गाना शामिल होता है। कव्वाली की परम्परा इसी सूफ़ी रवायत की देन है। लगभग 800 साल पुरानी इस कव्वाली परम्परा शैली ने संगीत के माध्यम से इस्लाम धर्म का प्रचार किया है। मैंने सबसे पहले कव्वाली का लुत्फ़ अपनी एक दोस्त द्वारा नुसरत फतेह अली खान साहब द्वारा गाई कव्वाली पर उठाया। इस कव्वाली को बार-बार सुनते-सुनते मैंने अपने अंदर एक सैलाब सा महसूस किया जिसने मेरे पूरे वजूद को झकझोर कर रख दिया। यह कव्वाली सूफ़ी संत फ़रीदुद्दीन गंजशकर, जो चिश्ती मत के अग्रणी प्रचारक रहे हैं की शान में संगीतबद्ध की गई थी। फ़रीदुद्दीन ने पंजाबी भाषा का इस्तेमाल करके आम लोगों के बीच अपने विचारों का प्रचार किया जिसके नतीजतन पंजाबी साहित्य और संस्कृति फली-फूली।

ख़ैर पैसे जमा करने के बाद मैं तीन हफ़्तों के लिए भारत आई और दिन-रात हज़रत मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर दरवेशों के साथ समय बिताया। मेरा अगला पड़ाव कव्वाली संगीत की जन्म भूमि पाकपट्टन शरीफ़, पाकिस्तान था। यहां बाबा फरीद की मज़ार भी है जहां यह माना जाता है कि हर आने वाले की मुराद पूरी होती है। इस मज़ार पर औरतों के जाने पर पाबंदी है परन्तु पाकिस्तान की वज़ीरे आज़म, बेनजीर भुट्टो ने इस परम्परा को तोड़कर औरतों के लिए यहां ज़ियारत करने का रास्ता खोल दिया।

सन् 2002 तक मैंने कई ऐसी जगहों का सफ़र कर लिया था जहां एकता और सद्भाव तथा सर्व-धर्म सम्भाव का अनूठा माहौल मुझे देखने को मिला था। अमृतसर का स्वर्ण मंदिर, वाघा बार्डर और अनेकों जगहों पर लोगों से मिलकर मैंने जाना की कव्वाली ज़्यादातर लोगों को बहुत प्रिय है। इस दौरान मैंने बनारस के एक तबला नवाज़ से छः महीने तक तबले की तालीम भी हासिल कर ली थी। मैंने जान लिया था कि कव्वाली परम्परा में भारतीय संगीत की कई शैलियों के विविध पहलुओं का समागम है। फारसी, ठेठ हिन्दी, पंजाबी, सराइकी, उर्दू भाषाओं के साथ-साथ कव्वाली में लोक संगीत परम्परा 'काफ़ी' और पारम्परिक संगीत शैली के 'राग' सिद्धान्तों का मिश्रण पाया जाता है। इस सम्मिश्रण के कारण ही इसे अनेक बोली, भाषा और क्षेत्रों में बसने वाले लोग पसंद करते हैं।

वैसे तो कव्वाली गायन सूफी संतों की बरसी पर होने वाले 'उर्स' के दौरान किया जाता है जब आत्मा और खुदा का मेल होता है और नश्वर शरीर खाक़ में मिलकर पाक रुह ईश्वर में लीन हो जाती है। 'उर्स' तीन दिनों व तीन रातों तक लगातार चलता रहता है। अपनी 'हाज़िरी' दर्ज करने अनेक कव्वाल 'उर्स' में शिरकत करते हैं। मेरे उस्ताद दिलदार हुसैन बताते हैं कि जब वे 'उर्स' में गाते हैं तो वे आत्मा-परमात्मा के मिलन का जश्न मानते हैं। इस समय उनके भीतर एक अनोखी ऊर्जा का संचार होता है जिसके आगे लोगों की मौजूदगी, खुशी, गम, पैसा, नाम सब बेमानी लगते हैं।

मुझे याद है जब मैं पाकपट्टन गई थी। मेरा दिल ज़ोरों से धड़क रहा था और कव्वाली का संगीत मेरे कानों से मेरी नसों में बहने लगा था। मैं तल्लीन होकर नाचने लगी और मुझे पता ही नहीं चला कि मैं कितने घंटों तक नाचती रही। लोगों ने मेरे ऊपर पैसे फैंके; कई बच्चे, बूढ़े, जवान, मर्द-औरत मेरे साथ नाचने लगे। ऐसा पूरी रात चला। एक के बाद एक कव्वाली गाने वालों की टोली गाती रही और मैं मुग्ध होकर उसमें खोती चली गई। उस रात मैंने जो भी देखा और अनुभव किया उसने मुझे कव्वाली तबला गायिका बनने की प्रेरणा दी।

'उर्स' में कव्वाली गायन

सभी फ़ोटो- अमीना चिश्ती

अब मैंने पाकिस्तान में रहकर स्थानीय उस्तादों और कव्वालों से सीखना और उनके साथ गाना-बजाना शुरू कर दिया। वहां की मेहमान नवाज़ी गज़ब की थी, ऐसा लगा जैसे मैं किसी बड़े समुदाय का हिस्सा बन गई हूं। उन्होंने मुझे चिश्ती विरासत में एक बहन की तरह स्वीकार कर लिया। हरेक

परिवार के तबला नवाज़ घंटों मेरे साथ रियाज़ करते थे। मुझे लगा मेरी साधना पूरी होने लगी थी।

कुछ ही दिनों बाद मशहूर सूफ़ी संत अली हुजविरी दाता गंज बख्श के 'उर्स' का आयोजन होने वाला था। मेरे साथी कव्वालों ने मुझे उसमें शामिल होकर वहां मशहूर उस्ताद कव्वालों से मिलने का मौका प्रदान किया। मैं लाहौर पहुंची— जहां मेरी मुलाकात नामचीन कव्वाल मंडली शेर मेहर अली के बेटे के साथ हुई। निवेदन करने पर उन्होंने मुझे अपने उस्ताद दरवेश वालिद तथा अनेक मशहूर कव्वालों से मिलवाया।

बारह वर्ष गुज़र चुके हैं पर इन सभी बातों को दोबारा याद करते हुए मुझे एक सुखद अनुभूति का एहसास होता है। अब मैं अपने उस्ताद गुरु दिलदार हुसैन, जिन्होंने मुझे अपना शार्गिद बना लिया है, के साथ कव्वाली परम्परा की रवायत को देश-विदेश में लोगों के साथ बांटती हूं। लोग मुझे कव्वाली तबला शैली चलाने वाली पहली महिला फ़नकार के नाम से जानते हैं। उस्ताद दिलदार हुसैन ने तीस वर्षों तक महान कव्वाली गायक नुसरत फतेह अली ख़ान के साथ गाते बजाते बिताए हैं। उसी परम्परा को उस्ताद दिलदार हुसैन आगे ले जा रहे हैं। मैं खुशनसीब हूं की मैं भी इसी विरासत का हिस्सा बन पाई हूं।

कव्वाली-तबला परम्परा की सबसे अनोखी बात यह है कि इसमें पारम्परिक शैली और समकालीन संगीत का संगम देखने को मिलता है। इसमें गाए जाने वाली सूफ़ी नज्में, गज़लें और गीत रूह को सकून और दिल को खुदा की बंदगी में पूरी तरह सराबोर कर देने की कशिश रखती हैं। मैं खुद को बहुत खुशनसीब मानती हूं जिसे इस संगीत परम्परा को सीखने, समझने और महसूस करने का मौका मिला है।"

अमीना चिश्ती *कव्वाली-तबला शैली में गाने वाली पहली फ़नकार है। यह लेख उन्होंने खुद लिखा है।*

कविता

मिथिला पेंटिंग

कतुवन की कूंची है
गेरू में ऊभचूभ!
अपने लिखते हैं अहिवात
मेरे अभय का
मेरी स्मृतियों के चौकोर में!

चौकोर में पूरी कायनात—
तालमखाना, आवां-चकवा,
पउती, कजरौठा, सिन्होरा,
लहठी, पेरूकिया, मछरिया,
नागिन, पिठारी, बंसुरिया,
विद्यापति, उगना, लखिमा रानी,
सुग्गा-सुग्गिन भारती के,
फंसे हुए महाजाल में सुग्गे गाते हैं,
गाते हैं रटे हुए दोहे—
"शिकारी आएगा, जाल बिछाएगा,
दाना डालेगा-भूल से उसमें फंसना नहीं!"

हंसती है वृद्धा की ठिकुली,
हंसता है आंखों का दीया!
हंसती है रोहू की छटक-पटक,
हंसता है सेमल का बीया!
हंसते हैं, वाचस्पति के ग्रंथ हंसते हैं,
हंसती है भामतिया टीका!
हंसते हैं महाकाल, हंसती है काली,
हंसती है भटकोइयां की भींगी खुशबू
हंसता है बंगाल का काला जादू!
हंसते हैं, हंसते हैं ये मेरे ख्वाब भी
उड़नछू,
हैं ये उड़नछू, उड़नछू हैं!
उड़ भी गए लेकिन तो क्या—
'छू' की छनक इनमें बाकी रहेगी,
एक धमक इनमें बाकी रहेगी।

अनामिका

अनामिका, *हिन्दी साहित्य की जानी मानी नारीवादी कवयित्री हैं।*

बिंदिया
मेरी दोस्त, मेरी हमसफ़र

कमला भसीन

सुनीता (धर) और **गीता (नम्बीशन)** ने 'जागोरी' की पत्रिका 'हम सबला' के लिये मुझे बिंदिया के बारे में लिखने को कहा। उनका ये सुझाव मेरे लिये बहुत ही मददगार रहा। वो सारी यादें, उथल-पुथल जो बिंदिया के जाने के बाद मेरे अन्दर दहाड़ें सी मार रही थीं, निकलकर बाहर आ पाईं। 'जागोरी ग्रामीण' के तारा केन्द्र के सौन्दर्य और ख़ामोशी के बीच बैठ कर मैंने यह सब लिखा। लिखते वक्त दिल बेहद उदास था, आंखें कभी नम थीं, कभी गीली और कभी उन में बाढ़ आती थी और मैं क़लम छोड़कर अपने बेटे के पास बैठ जाती थी। मेरा 33 बरस का मूक बेटा सब समझता है और अपनी बड़ी-बड़ी ख़ूबसूरत आंखों से प्यार और सुकून बरसाता है। उसने यही किया हर बार, जब मैं उदास और रोती हुई उसके पास गई।

बिंदिया (थापर) और मैं पहली बार कब मिले ये ठीक से याद नहीं है। लगता तो ऐसे है जैसे हमेशा से एक दूसरे को जानते थे और हमेशा जानेंगे। शायद 1986-87 में कभी मिले थे। मैंने ढूंढ़ा था उसे, क्योंकि मुझे उसकी कला और प्रतिभा की ज़रूरत थी। मैं राजस्थान महिला विकास कार्यक्रम की 80-85 साथिनों के एक लम्बे प्रशिक्षण से लौटी थी। उस प्रशिक्षण के लिये मैं लड़कियों और महिलाओं की स्थिति पर एक किताब का मसौदा बना कर ले गई थी। उस प्रशिक्षण में उस मसौदे को सबने छोटे समूहों में पढ़ा, उस पर चर्चा की और उस के बाद वह किताब तैयार हुई। उस किताब का नाम है "हमारी बेटियां इंसाफ़ की तलाश में"। इस किताब की साज सज्जा के लिये मैं किसी चित्रकार/रूपकार की खोज में थी। तब किसी ने मुझे बिंदिया का कुछ काम दिखाया और उसका अता-पता दिया। मैंने उसे सम्पर्क किया और तब शुरू हुआ लगभग तीस वर्ष लम्बा सफ़र, बिंदिया और मेरे साझे काम, दोस्ती और प्यार का सफ़र।

मुझ से दस साल छोटी थी/है बिंदिया। वह मुझ से पहले शरीर त्याग कर चल पड़ेगी कभी नहीं सोचा था। बड़े-बुजुर्ग पूरी ज़िंदगियां जी कर जाते हैं तो अपने दर्द को समझाया जा सकता है। मगर नज़दीकी व्यक्ति का असमय जाना जान ले लेता है, बहुत तड़पाता है, बहुत बड़े इम्तहान लेता है। मेरे बहुत सारे ऐसे इम्तहान हो चुके हैं। 2004 में मुझ से दो साल छोटा, जी-जान से प्यारा मेरा भाई, इन्दू गया। 2006 में मेरी जान, मेरा भविष्य, 27 साल की मेरी बेटी मीतो गई। उसके जाने ने हिला रखा है मुझे। 2009 में मेरे मित्र और बिंदिया के जीवन-साथी, स्मितु (कोठारी) गए। 2012 में मुझ से दो साल बड़ी मेरी बहन कुसुम चल बसी। 2013 में मेरी निहायत अज़ीज़ दोस्त सुनीला (अबयसेकेरा) गई। और अब बिंदिया। बहुत हैरान हूं आज कल मैं। समझ नहीं आ रहा कहां से ये सारी

जुदाईयां और ग़म सहने और ज़िन्दा रहने की ताक़त आती है। शायद यही सच हो, कि परेशानियों और ग़मों के साथ-साथ उन्हें सहने की हिम्मत भी हमें दी जाती है।

कैंसर के साथ ग्यारह बरस

ग्यारह बरस कैंसर के साथ बिताने के बाद बिंदिया ने 18 अप्रैल, 2014 को अपना शरीर त्यागा। 2003 में सिर्फ़ 47 साल की थी वो जब कैंसर ने उसके शरीर में प्रवेश किया। मैं बिंदिया के साथ थी जब डॉ. ऐबी ने कहा कि उसे कैंसर है। बिंदिया, उसकी बेटी माओ (ताहिरा), उसका जीवन साथी रिमतु (कोठारी), मां प्रिमिला जी (लूम्बा), बहन आन्या (लूम्बा) और हम उस के बहुत सारे दोस्त, यक़ीनन बहुत घबराये। वो भागदौड़, खोजबीन, परेशानियां, जो कैंसर जैसी बीमारी के साथ शुरू हो जाती हैं, शुरू हुई। सारी जांच पड़ताल के बाद यह तय किया कि उसका इलाज सरकारी अस्पताल एम्स (AIIMS) में करवायेंगे। बिंदिया के नज़दीकी दोस्त अन्शु (प्रकाश) वहां कुछ डॉक्टरों से परिचित थे, सो सफ़र कुछ आसान हो गया। कैंसर विशेषज्ञ डॉक्टर ललित ने बिंदिया का इलाज करना शुरू किया। ग्यारह बरस तक उन्होंने ही इलाज किया। बिंदिया और हम सब डॉक्टर ललित की दक्षता, करूणा, इन्सानियत के कायल हो गये। जितनी सुविधायें, संसाधन, क्षमता एम्स अस्पताल के पास हैं, उनसे कई गुना ज़्यादा मरीज़ वहां आते हैं। वहां की भीड़ और मरीज़ों और उनको सम्भालने वालों की परेशानियों को देख कर रोंगटे खड़े होते हैं। वहां का प्रबन्धन करना, बिल्कुल आसान नहीं है। इन परिस्थितिओं में अपनी इंसानियत, करूणा, सबको बनाये रखना आसान नहीं है। मगर आज भी सरकारी अस्पतालों में डॉक्टर ललित जैसे व्यक्ति हैं जो इन्सानियत से हमारा भरोसा उठने नहीं देते। सरकारी अस्पतालों में और चाहे कितनी तकलीफ़ें उठानी पड़ती हों, वहां कम से कम यह ख़याल तो नहीं कचोटता कि हमें लूटा जा रहा हैं, सिर्फ़ पैसा बनाने के लिये टैस्ट किये जा रहे हैं, मशीनों पर रखा जा रहा है।

बिंदिया की शल्य चिकित्सा और कीमोथैरेपी हुई। कुछ समय के लिये वो कैंसर मुक्त रही या कैंसर कहीं गहरे में छुप गया। वो स्वस्थ हुई, उसके खूबसूरत बाल वापिस आये, जीने की ताक़त और तमन्ना लौटी। मगर 6-8 महीने बाद कैंसर भी लौट आया। फिर वही सिलसिला, अस्पताल के चक्कर, टैस्ट, दवाईयां, सुईयां, दर्द, सर्जरी, कीमोथैरेपी, जी का मचलना, घबराहट, बालों का गिरना, अन्तहीन परेशानियां और इम्तहान। ग्यारह साल तक हर बरस ये इम्तहान आये। सच में यक़ीन नहीं होता कि बिंदिया और उसकी टीम ने कैसे ये सब किया।

परेशानियों और सहनशक्ति के बीच मुक़ाबला

शायद यह बिंदिया और उसके नज़दीकी लोगों की हिम्मत, उम्मीद, दानिशमंदी, समझ बूझ थी कि इन तूफ़ानों में भी हाहाकार का माहौल नहीं बना, हंगामई हालात नहीं पनपने दिये। परेशानी को सहजता से लिया गया। कैसी कैसी परेशानियां आई। इन ग्यारह सालों के दौरान बिंदिया की अम्मा, प्रिमिला जी को भी कैंसर हुआ। मां बेटी एक ही समय एम्स के दो कमरों में इस बीमारी से जूझ रही थीं। दोनों ठीक हो कर घर लौटीं। सब ने उम्मीद का दामन पकड़े रखा।

इसी दौरान 2006 में मेरी बेटी मीतो, जो उस समय ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में पीएचडी कर रही थी, और बिंदिया मौसी के भी बहुत क़रीब थी, गुज़र गई। जिस रात ये भयानक ख़बर आई बिंदिया और मैं कमानी सभागार में एक नाटक देख रहे थे। दोनों हंसते हुये, नाटक पर चर्चा करते हुये पैदल मेरे घर आये और वहां मिल कर खाना खाने की योजना थी। घर आये तो देखा मेरे दोस्त

रितु, पोगी, रत्ना, (मेनन) और विद्याराव बैठे हुये थे मुझे बाहों में लेकर ये बताने कि मीतो चल बसी। उस ने आत्महत्या की। मीतो का दोस्त फ़ोन पर मुझे सीधा इतना बड़ा धक्का नहीं देना चाहता था, सो उसने मेरे मित्रों को फ़ोन किया और उन्हें कहा मुझे बताने को। मीतो को *Depression* की बीमारी थी, यह तो हमें पता था, मगर ऐसा भी हो सकता था, कभी नहीं सोचा था। मुझ पर, मेरे परिवार पर और मेरे और मीतो के तमाम चाहने वालों पर क्या गुज़री यहां लिखने की ज़रूरत नहीं है। बिंदिया, रिमतु, माओ इस दौरान मुझे सहारा देते रहे। मुझे याद है बिंदिया ने एक दिन मुझे बहुत दुखी होकर कहा था "एक तरफ़ मैं अपनी ज़िंदगी को बचाने की हर कोशिश कर रही हूं और दूसरी तरफ़ मीतो ने खुद अपनी ज़िंदगी ख़त्म कर दी। क्या है यह सब?" यही हैं ज़िंदगी की अजीबोग़रीब बातें जिन्हें समझना और जीना आसान नहीं है। ख़ामोशी के अलावा मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं था।

हम सब मिल कर ज़िंदगी के इन तूफ़ानी बाढ़ों से जूझते रहे, उनमें गोते खाते रहे। पानी अक्सर सर के ऊपर था, पर ज़िंदगी चलती रही। इन उतार-चढ़ावों में शायद हमारी दोस्तियों और काम ने हमें ज़िन्दा रखा, और हमारी दोस्तियां और गहराई। एक तूफ़ान थमता था, हम कुछ हिम्मत बटोर पाते थे कि बिंदिया का कैंसर फिर आ जाता था और फिर वही सिलसिला। कैंसर एक ऐसी बीमारी है जिससे निपटने के लिये पूरी टीम चाहिये होती है। बिंदिया क़िस्मत वाली थी कि उसकी एक ज़बरदस्त टीम थी। पूरा परिवार था, बहुत सारे दोस्त थे। रिमतु ने भी बहुत प्यार और लगन से देख-रेख की बिंदिया की।

कैंसर के आने के बाद बिंदिया ने अपने भोजन और जीने के तरीक़े को बहुत बदला। ऐलोपैथी के साथ-साथ कई और तरह के इलाज भी करवाये। होम्योपैथी, आयुर्वेद, तिब्बती इलाज, प्राकृतिक चिकित्सा, सब कुछ। प्राकृतिक चिकित्सा के लिये बिंदिया और रिमतु केरल जा कर एक छोटे प्राकृतिक चिकित्सालय में रहे। जब रिमतु को काम के लिये बाहर जाना था, मैं केरल गई और 10-12 दिन बिंदिया के साथ रही। वहां हम दोनों घूमने जाते थे, संगीत सुनते थे, हंसते थे, खूब बातें करते थे। डेढ़ दो महीने वहां रहकर बिंदिया दिल्ली लौटी। मगर कुछ समय बाद कैंसर फिर लौटा। हर साल शरीर कुछ ज़्यादा कमज़ोर था, कैंसर कुछ ज़्यादा शिद्दत से आता था, हम सब कुछ और बूढ़े हो रहे थे, मगर हिम्मत और उम्मीद के हाथ पकड़े रहे। वैसे, हमारे पास और चारा भी क्या था।

न तूफ़ान थमे, न हमने हिम्मत हारी

2009 में बिन मौसम और बिना चेतावनी के एक और तूफ़ान आया, बिंदिया और हम सब की ज़िंदगी में। अच्छे खासे, स्वस्थ रिमतु दिल्ली में एक बैठक में बोल रहे थे कि बेहोश होकर गिर गये। दिल के बाहर की धमनी में छेद हो गया था। इस के दो दिन पहले ही रिमतु और मैं पीपल्स सार्क की एक दक्षिण एशियाई बैठक में हिस्सा लेकर नेपाल से लौटे थे। रिमतु बिल्कुल स्वस्थ और मज़े में थे, ठीक थे। दिल का आप्रेशन किया गया मगर रिमतु नहीं बचे। बिंदिया, उसके परिवार और दोस्तों को अब रिमतु के अकस्मात चले जाने के दर्द से निपटना था। ये भी किया बिंदिया बीबी ने। कैसे किया, मुझे नहीं पता, पर किया और गरिमा के साथ सब कुछ किया। रिमतु के गुज़रने के बाद बिंदिया की बेटी माओ और दामाद

अमित की ज़िम्मेदारियां बढ़ गई। वे इंग्लैण्ड से लौटे और बिंदिया के साथ रहने लगे। कैंसर दबता रहा, उभरता रहा, कभी किसी अंग में, कभी किसी अंग में। 2012 में उसने मस्तिष्क में डेरा डाला। मस्तिष्क की सर्जरी हुई, बिंदिया फिर ठीक होकर घर लौटी। इसी वक्त

माओ की बेटी नूर पैदा हुई और परिवार में नूर छाया। बिंदिया नानी ने नूर के साथ खूब मज़े किये। उसके लिये कपड़े और स्वेटर बनाये, उसके साथ लोदी गार्डन घूमने गई, उसे कहानियां सुनाई, अजीब-अजीब नाम दिये। घर में चार पीढ़ियां देख कर दिल खुश होता था। प्रिमिला जी, बिंदिया, माओ और नूर।

2012 में मस्तिष्क की सर्जरी के दौरान किसी को पता नहीं था कि बिंदिया नूर के आने का इन्तज़ार कर पायेगी या नहीं। सब बहुत खुश थे जब बिंदिया स्वस्थ हुई, नानी बनी और नानी होने का पूरा आनन्द लिया। ज़िंदगी कैसे जीनी चाहिये बिंदिया ने हम सब को दिखाया और सिखाया। मगर अब बिंदिया थक गई थी। वो अब और दर्द सह कर नहीं जीना चाहती थी। उसने तय कर लिया और सब को कह भी दिया था कि अब (अगर) कैंसर वापिस आया तो वो कोई सर्जरी नहीं कराएगी। ज़िंदगी को लम्बा करने के लिये और तकलीफ़ नहीं सहेगी। अब बिंदिया अपने अगले सफ़र के लिये तैयार थी और उसने परिवार और दोस्तों को भी तैयार करने की कोशिश की।

2013 के आखिरी महीनों में फिर से काफ़ी स्वस्थ थी बिंदिया। फिर से चित्रांकन करना चाहती थी। उसने मुझ से कहा चलो कुछ करते हैं। मैं तो हमेशा उसके साथ काम करने को तैयार रहती थी, सो मैंने कहा "चलो दिलदार चलो, मिलकर कुछ और काम कर लो"। मगर, इन इरादों के कुछ ही दिनों बाद कैंसर फिर से मस्तिष्क में सक्रिय हो गया। डॉक्टरों ने भी वही कहा जो बिंदिया चाहती थी, यानी अब और कुछ नहीं किया जा सकता। कुछ ही हफ़्तों में बिंदिया की प्रतिक्रियायें कम हो गई। धीरे-धीरे उस का पहचानना, मुस्कुराना, बात करना, इशारे करना बन्द हो गया। नाक में लगी ट्यूब से उसे तरल खाना दिया जाने लगा। सुकून इस बात का था कि बिंदिया को दर्द, या तकलीफ़ महसूस नहीं हो रही थी। उसे घर ले आये और कोशिश की कि वो तकलीफ़ न पाये, उसकी गरिमा बनी रहे। उसे इस हालत में देखना सरल नहीं था। चार महिला सहायक, माओ और अमित, बिंदिया की बहुत प्यार से अन्त समय तक देख रेख करते रहे। बिंदिया को हमेशा लेटे देख कर नूर ज़रूर बौखलाती रही। वो बिंदिया के कमरे में जाती थी। नानी-नानी कह कर आवाज़ देती थी, मगर कोई जवाब नहीं। बहुत हैरान हो जाती थी दो बरस की नूर इस ख़ामोशी पर।

18 अप्रैल रात 8:50 पर हमारी बिंदिया ने अन्तिम सांस ली। दस मिनट के बाद माओ ने मुझे फ़ोन किया और कुछ ही देर में मैं बिंदिया के घर, उसके पास थी। 19 अप्रैल की सुबह ग्यारह बजे सैकड़ों प्रियजनों की मौजूदगी में बेटी माओ और दामाद अमित ने बिंदिया का अन्तिम संस्कार किया। पहली मई, मज़दूर दिवस की शाम को बिंदिया का परिवार और दोस्त इकट्ठे हुये और उसे संगीतमय श्रद्धांजलि दी। दामाद अमित और मित्र सोनम (कालरा) और उनकी टीम ने संगीत से श्रद्धांजलि दी। बिंदिया की दोस्त अरूनधिति (रॉय) और मैं कुछ बोले। ज़्यादा

समय संगीतमय ख़ामोशी थी और यही हम सब चाहते थे।

अपना शरीर त्याग कर बिंदिया अब अपने चाहने वालों के दिलों में बसती है। उसकी यादों के चिराग़ जगमगा रहे हैं। बिंदिया की कृतियां भी हमारे साथ हैं और रहेंगी। अब शरीर के बन्धन नहीं हैं। दिल में तस्वीर है उस की। जब जी चाहा गर्दन झुकाई देख ली!!

कैंसर से इतना जूझने के बावजूद भी बिंदिया ने शायद ही कभी कहा हो जो अकसर लोग कहते हैं "मैं कैंसर से लड़ रही हूं। या कैंसर और मेरे बीच युद्ध चल रहा है।" "जो मिल गया उसी को मुक़द्दर समझकर" बिंदिया अपना इलाज करवाती रही और जब लगा कि अब ये शरीर ठीक नहीं हो सकता तो हमारी दोस्त अपने नश्वर शरीर को त्याग कर आगे चल पड़ी। बिंदिया के जीने के तरीक़ों ने बहुत सिखाया है हम सबको।

बिंदिया की जादुई चित्रकारी

दिल्ली वासी थी/है बिंदिया। उसके पिता ट्रेड यूनियन के माध्यम से मज़दूरों के अधिकारों की रक्षा का काम करते थे। मां प्रिमिला लूम्बा अध्यापक रहीं, 'स्प्रिंगडेल स्कूल' के बोर्ड पर आज भी हैं और 'नेशनल फ़ेडरेशन ऑफ़ इन्डियन विमेन' नामक एक बड़ी महिला संस्था की सक्रिय सदस्य व कार्यकर्ता, आज 75 वर्ष की उम्र में भी हैं। बिंदिया ने 'दिल्ली पब्लिक स्कूल' में पढ़ने के बाद 'दिल्ली स्कूल ऑफ़ आरक्टिक्चर एन्ड प्लानिंग' से शिल्पकला में डिग्री हासिल की थी। कुछ दोस्तों को मकान बनाने में सलाह दी। कई साल आंशिक रूप (पार्ट-टाईम) से अपने ही स्कूल में पढ़ाया भी मगर ज़्यादा काम बिंदिया ने किताबों, पोस्टर आदि के रूपकार, चित्रकार, सज्जाकार के रूप में किया। बच्चों की बहुत सारी किताबों के लिये चित्र बनाये। अपनी बीमारी के दौरान बिंदिया ने जस्टिस लीला सेठ जी की बच्चों के लिये लिखी *We, The Children of India* किताब को सुसज्जित किया। यह किताब *Penguin India* ने छापी है। *Puffin* के लिये बिंदिया ने एक बहुत ही मज़ेदार किताब बनाई है *Curiosity Killed the Cat and other Animal IDIOMS* कथा के लिये बिंदिया ने गीता धर्मराजन की पुस्तक *The Magic Raindrop* और सारॅग देव मूर्ती की लिखी पुस्तक *The Runaway Puppy* सजाई। इसी प्रकार पंकज बिश्त द्वारा लिखी *Bholu and Golu* और कल्पना स्वामीनाथन द्वारा लिखित पुस्तक *The True Adventures of Prince Teentang* को सुसज्जित किया। तूलिका पब्लिशर्स के लिये बिंदिया ने दो किताबें बनाई-एक है हिन्दी शब्दमाला सिखाने के लिये "क से कपड़े कैसे" और दूसरी मेरी लिखी पुस्तक "मालू भालू"। मालू-भालू एक छोटी सी भालू और उसकी मां की हिम्मत पर लिखी एक लम्बी कविता है। तूलिका ने मेरी हिन्दी में लिखी किताब को पांच और भाषाओं में भी अनुवाद करके छापा है— इंग्लिश, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम।

बिंदिया बच्चों की किताबों में तो जान डाल देती है। इन्सान, पेड़-पौधे, जानवर, चिड़िया हिलते-डुलते, चलते-फिरते, उड़ते से नज़र आते हैं। बिंदिया के बनाये फूलों में ख़ुशबू सी होती है। उसकी सारी किताबें जीवन्त और मस्ती भरी हैं। उनमें जादू है, आनन्द है और शायद इसीलिये बच्चे उन्हें बहुत पसन्द करते हैं। तुम्हारी और तुम्हारी कृतिओं की जय जयकार है बिंदिया। ये किताबें बच्चों को ख़ुश करती रहेंगी और उनके जीवन में मस्ती भरती रहेंगी।

मेरे शब्द और बिंदिया के चित्र: एक लम्बी साझेदारी

बिंदिया ने बहुत लोगों के साथ, बहुत तरह का बहुत काम किया, और बहुत अच्छा काम किया, पर मेरी जानकारी के हिसाब से, बिंदिया और मेरी साझेदारी सब से ज़्यादा और लम्बी रही। अपनी दोस्त बिंदिया के साथ अपनी नज़दीकी दिखाने के लिये मैं यह डींग मार रही हूं। वो एक हिन्दी फ़िल्म का गाना है न "मेरे सुर और तेरे गीत" उसी तर्ज़ पर मैं कहना चाहती हूं "मेरे शब्द और बिंदिया के चित्र।" क्या फ़िट बैठते हैं दोनों। जब कोई ऐसा विचार आता था जिसे सूरत की ज़रूरत थी मैं बिंदिया को फ़ोन लगाती थी और हमारा काम शुरू हो जाता था। हमारा अपना छोटा सा लघु उद्योग बन गया था। मैं कुछ लिखती थी, बिंदिया चित्र बनाती थी और साज-सज्जा करती थी, 'सिस्टम्स विज़न' के विनय आदित्य जी छापते थे और 'जागोरी' प्रकाशन और वितरण करती थी। इस लघु उद्योग से महिला आन्दोलन के लिये बहुत कुछ निकला जो शिक्षाप्रद व प्रेरणा और आनन्ददायक है।

अनगिनत दीवारों पर खड़े होकर बोलते हमारे पोस्टर

महिला आन्दोलन के लिये बिंदिया ने और मैंने बहुत सारे और बहुत अच्छे पोस्टर बनाये और लोगों और संस्थाओं ने उन्हें बहुत पसन्द भी किया। महिला साक्षरता पर हमने पोस्टरों का एक सेट बनाया।

- मैं पढ़ना सीख रही हूं ताकि ज़िंदगी को पढ़ सकूं।
- मैं लिखना सीख रही हूं ताकि अपनी क़िस्मत ख़ुद लिख सकूं।
- मैं हिसाब सीख रही हूं ताकि अपने अधिकारों का भी हिसाब ले सकूं।

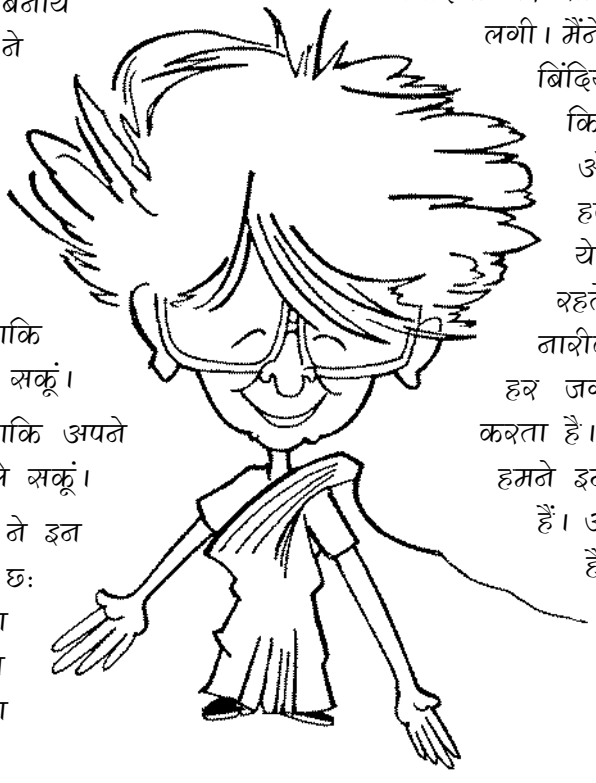

क्या जान डाली है बिंदिया ने इन पोस्टरों में। इसके बाद हमने छः पोस्टरों का एक सेट महिला हिंसा पर बनाया और उसे 'जागोरी' की मदद से पूरे देश और पड़ौसी देशों में पहुंचाया। मेरे एक छंद पर बिंदिया ने एक लाजवाब पोस्टर बनाया—

"मैं सरहद पर बनी दीवार नहीं, मैं तो उस दीवार पर पड़ी दरार हूं।"

मेरी कविता "क्योंकि मैं लड़की हूं मुझे पढ़ना है" पर हमने एक बड़ा पोस्टर बनाया। एक प्रभावशाली पोस्टर हमने मानव अधिकारों पर बनाया। और भी कई पोस्टर बनाये हमने और ये देश के कई कोनों में काम करती छोटी-बड़ी संस्थाओं में दिख जाते हैं। हर नई कृति पर बिंदिया और मैं उत्तेजित हो जाते थे। इन कृतियों से हमारे अन्दर ऊर्जा का संचार सा हो जाता था। हमारी रगों में ख़ून दौड़ने लगता था।

चूंकि मैं दक्षिण एशिया के स्तर पर काम करती हूं और भारत पाक दोस्ती के अभियानों से जुड़ी हुई हूं, हमारे कई पोस्टर हमने तीन भाषाओं में बनाये, हिन्दी, उर्दू और इंग्लिश। इस के कारण ये पोस्टर दक्षिण एशिया में हमारे हमारे पड़ोसी देशों में भी पहुंचे।

डिज़ाईनर बैनर: एक नई शुरूआत

हर अभियान और मोर्चे के लिये हमें बैनरों की ज़रूरत होती है। पहले हम सफ़ेद कपड़े पर काले से लिखकर काम चला लेते थे। पर जब डिज़ाईनर बिंदिया मेरे साथ थी तो मेरी ख्वाहिशें बढ़ने लगी। मैंने हर विषय पर नारे लिखे और बिंदिया ने उन के बैनर डिज़ाईन किये। ये बैनर हिन्दी, इंग्लिश और कुछ उर्दू में भी हैं। हमारे हर अभियान और प्रशिक्षण में ये बैनर खड़े-खड़े संदेश देते रहते हैं। हमारा दक्षिण एशियाई नारीवादी संजाल (नेटवर्क) 'संगत', हर जगह इन बैनरों का इस्तेमाल करता है। बहुत सी साथी संस्थाओं को हमने इन बैनरों के सेट बनाकर दिये हैं। अब ये बैनर सजावट भी करते हैं और हमारे संदेश भी पहुंचाते हैं। पिछले एक दो साल से जब से बिंदिया काम नहीं कर पा रही थी मुझे ऐसा

शब्द: कमला भसीन, चित्रांकन: बिंदिया थापर

लड़की क्या है ?

लड़का क्या है ?

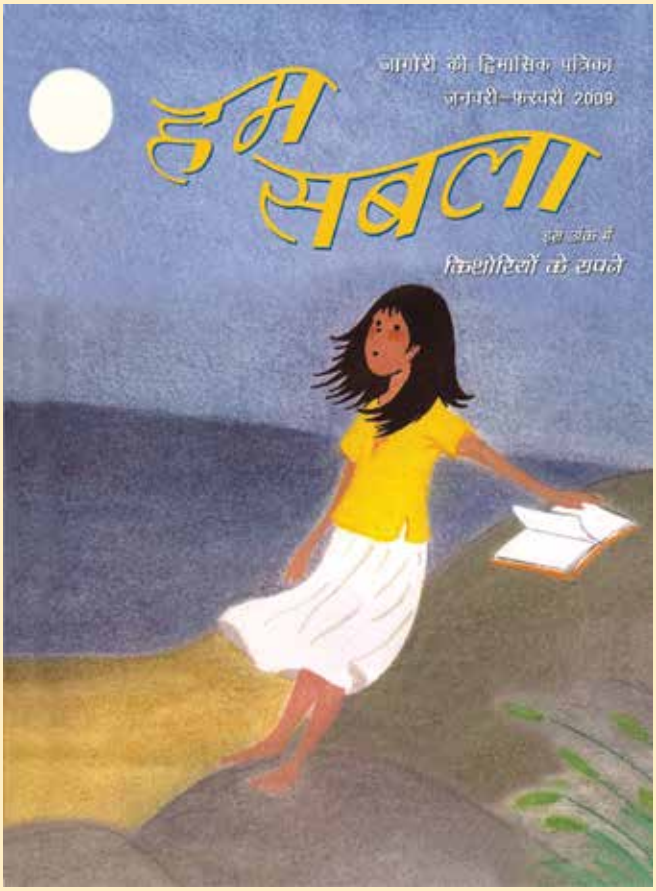
जागोरी की द्विमासिक पत्रिका
जनवरी–फरवरी 2009
हम सबला
इस अंक में
किशोरियों के सपने

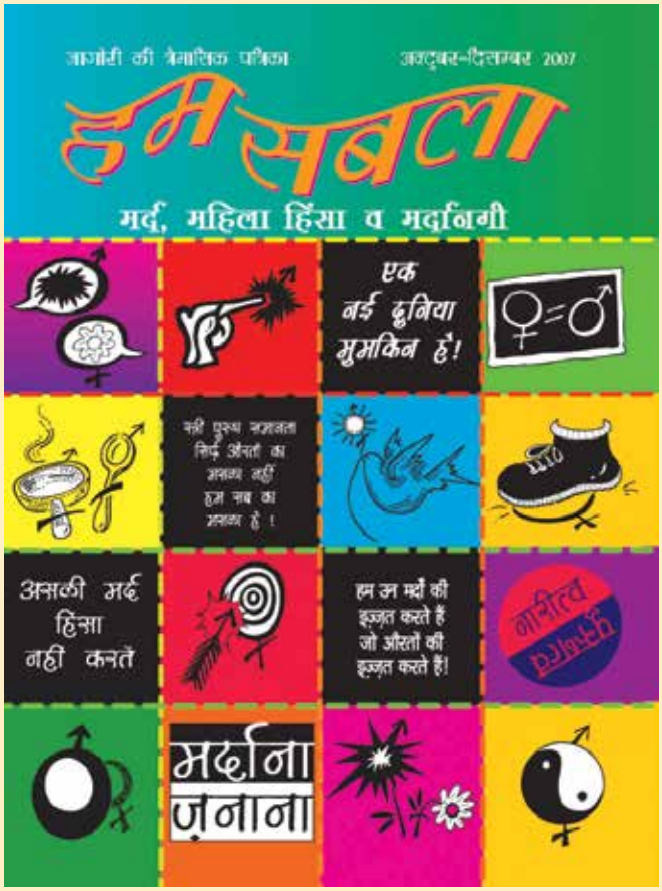
जागोरी की त्रैमासिक पत्रिका
अक्टूबर–दिसम्बर 2007
हम सबला
मर्द, महिला हिंसा व मर्दानगी
एक
नई दुनिया
मुमकिन है!
♀=♂
नहीं पुरुष समानता
सिर्फ औरतों का
अभियान नहीं
हम सब का
अभियान है!
असली मर्द
हिंसा
नहीं करते
हम उन मर्दों की
इज़्ज़त करते हैं
जो औरतों की
इज़्ज़त करते हैं!
मर्दाना
ज़नाना

जागोरी की त्रैमासिक पत्रिका
अप्रैल–जून 2008
हम सबला
इस अंक में
औरतें और स्वास्थ्य
स्वास्थ्य हमारा मूलभूत अधिकार

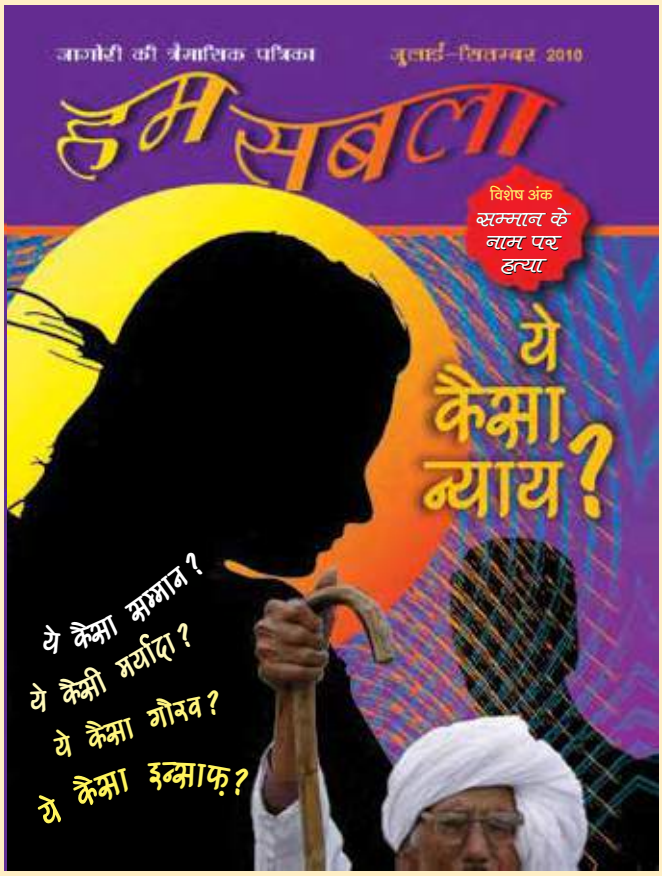
जागोरी की त्रैमासिक पत्रिका
जुलाई–सितम्बर 2010
हम सबला
विशेष अंक
सम्मान के
नाम पर
हत्या
ये
कैसा
न्याय?
ये कैसा सम्मान?
ये कैसी मर्यादा?
ये कैसा गौरव?
ये कैसा इन्साफ़?

एड्स नहीं होता सिर्फ़ औरों को
यह हो सकता है हमें और हमारों को !

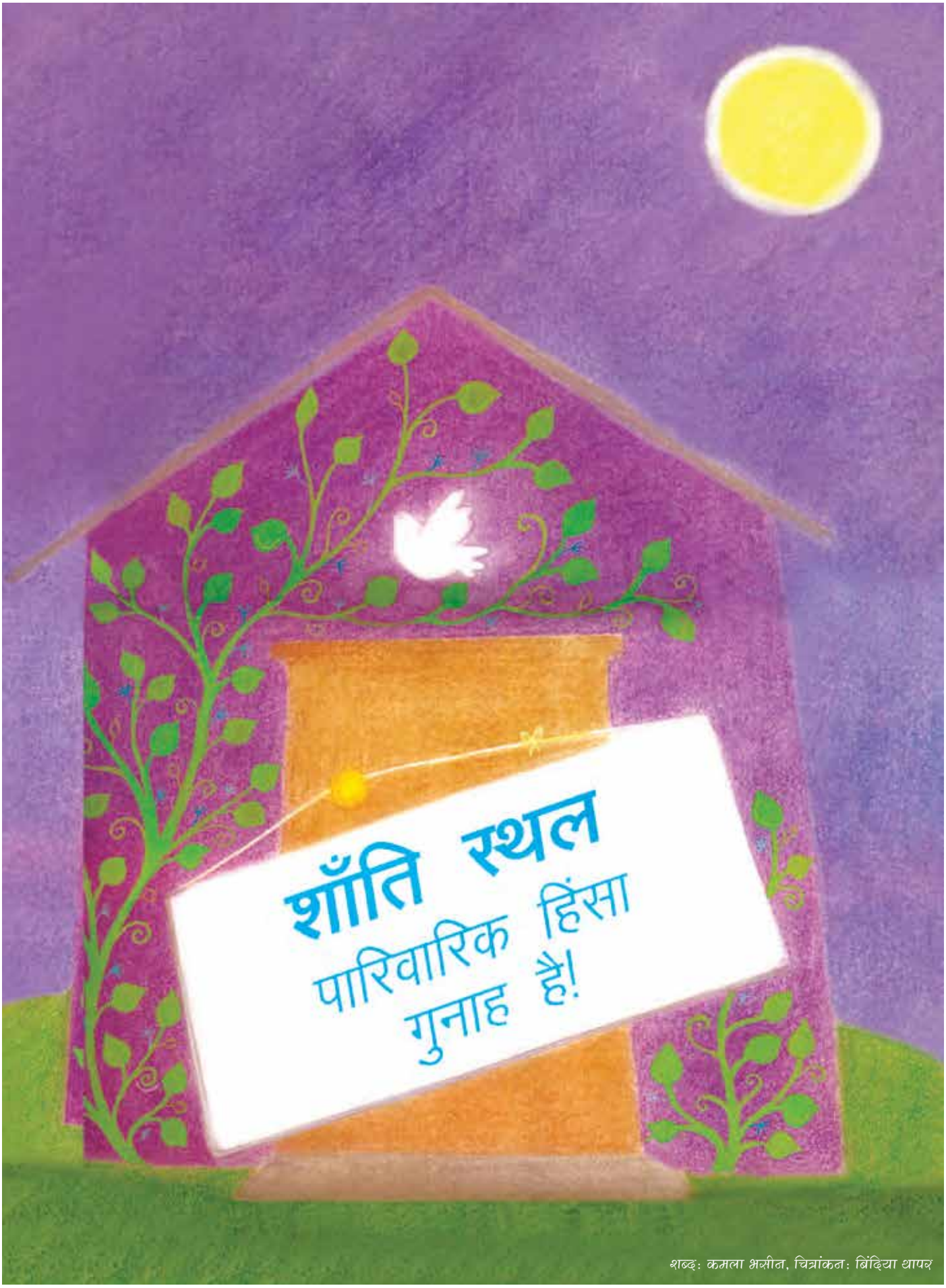

शब्द: कमला भसीन, चित्रांकन: बिंदिया थापर

THIRD INTERNATIONAL CONFERENCE ON
WOMEN'S SAFETY:
BUILDING INCLUSIVE CITIES
November 22-24, 2010
INDIA HABITAT CENTRE, NEW DELHI, INDIA
THIRD INTERNATIONAL CONFERENCE ON
WOMEN'S SAFETY:
BUILDING INCLUSIVE CITIES
November 22-24, 2010
INDIA HABITAT CENTRE, NEW DELHI, INDIA

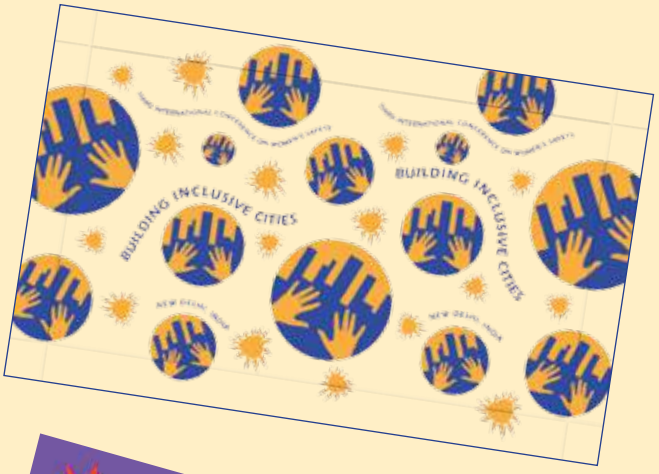
BUILDING INCLUSIVE CITIES
BUILDING INCLUSIVE CITIES

PROPERTY is RIGHT
for WOMEN

WOMEN UNITED
WILL NEVER
BE DEFEATED!

SUSTAINING
LIVELIHOODS
PROTECTING
PEACE
DEEPENING
DEMOCRACY
DEFENDING
HUMAN
RIGHTS

LAND RIGHTS
FOR WOMEN

DEMOCRACY WITHOUT
WOMEN
IS NO DEMOCRACY

LAND IS JUST RIGHT
FOR WOMEN

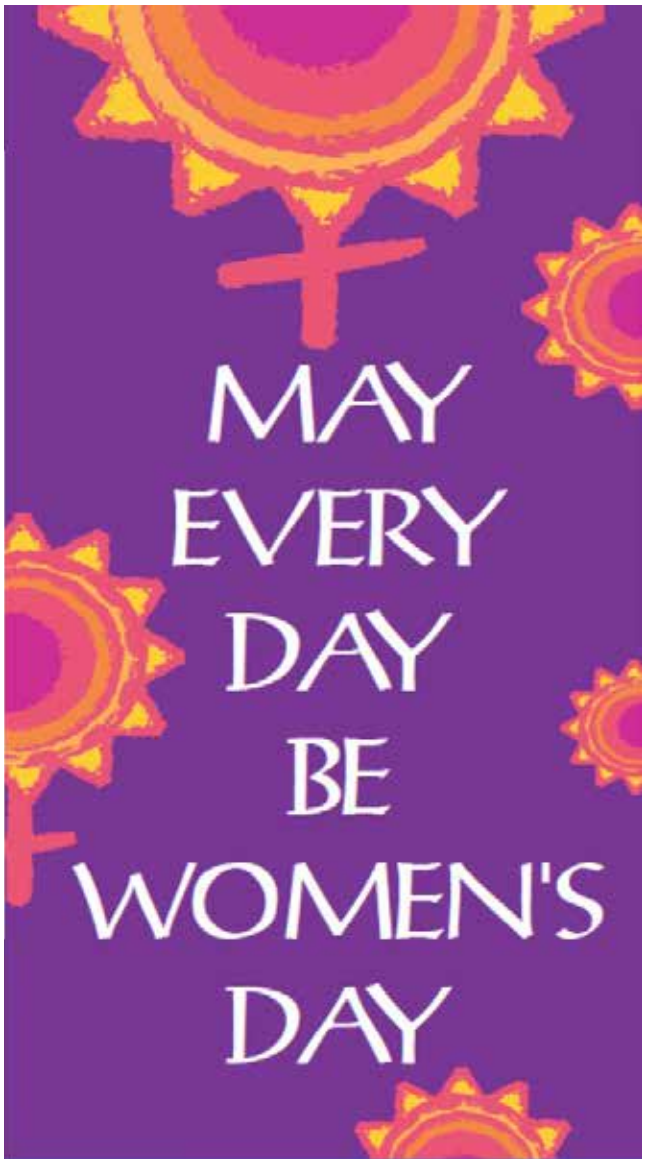
MAY
EVERY
DAY
BE
WOMEN'S
DAY

LET US
SALUTE
AND
CELEBRATE
WOMEN
ON
MARCH
8
INTERNATIOL
WOMEN'S DAY

जागोरी ग्रामीण

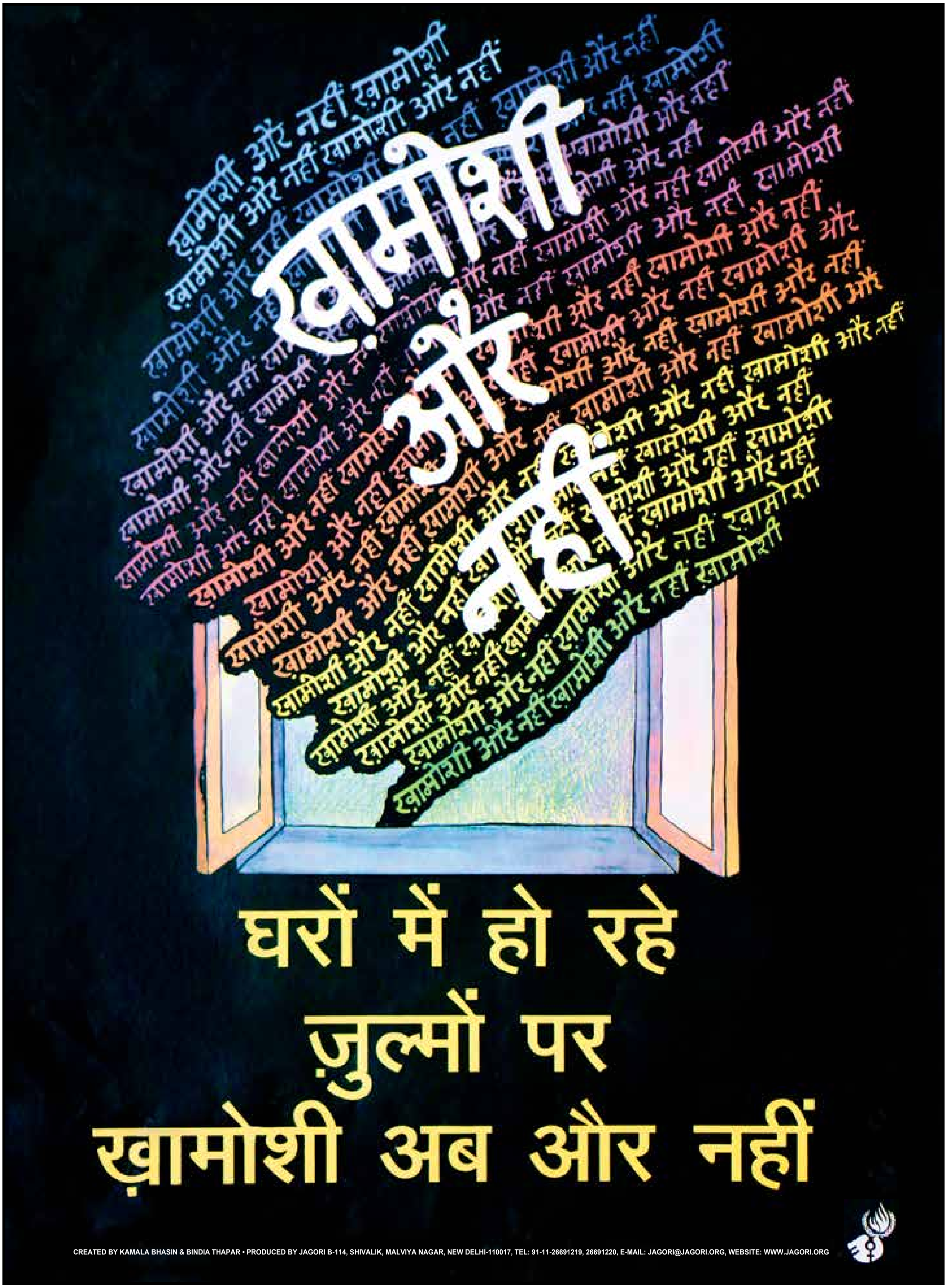
ख़ामोशी
और
नहीं
घरों में हो रहे
ज़ुल्मों पर
ख़ामोशी अब और नहीं
CREATED BY KAMALA BHASIN & BINDIA THAPAR • PRODUCED BY JAGORI B-114, SHIVALIK, MALVIYA NAGAR, NEW DELHI-110017, TEL: 91-11-26691219, 26691220, E-MAIL: JAGORI@JAGORI.ORG, WEBSITE: WWW.JAGORI.ORG

लगता रहा है जैसे मैं आधी रह गई हूं। बिंदिया की चित्रकारी के बिना मेरी शब्दकारी अकेली पड़ गई है। अब पहले जैसे जोश और संख्या में विचारों की उपज नहीं हो रही। चित्रकार और भी हैं पर हमारी बिंदिया का है अन्दाज़े बयां और। जैसे ग़ालिब अपने जैसे एक हैं, वैसे मेरे लिये बिंदिया भी एक है, अनुपम या बेनज़ीर, जिसका सानी नहीं।

बिंदिया ने जागोरी की 'सबला' को आकर्षक बनाया

बिंदिया के जोश, फुर्ती और उसके चित्रों की अभिव्यक्ति के कारण और उसके साथ काम करने में जो आनन्द आता था उसके कारण मेरी डिज़ाईन की हर ज़रूरत का जवाब थी बिंदिया। मेरी एक मित्र शारदा जैन जो दिल्ली के एक महिला कॉलेज की प्रिन्सिपल थी लड़कियों और महिलाओं के लिये एक पत्रिका निकालना चाहती थीं। अस्सी के दशक की बात है। शारदा जी मेरे पास आईं और हमने मिलकर 'सबला' निकालना शुरू किया। कुछ वर्षों के बाद अपनी बढ़ती उम्र के कारण शारदा जी 'सबला' के प्रकाशन की ज़िम्मेदारी नहीं उठा पा रही थीं और वे चाहती थीं कोई और संस्था 'सबला' का प्रकाशन करे।

मैंने 'जागोरी' के मित्रों के सामने ये प्रस्ताव रखा और 'जागोरी' ने खुशी से 'सबला' को अपना लिया। तब जुही जैन मेरे साथ यूएन में काम करती थीं। उन्हें भी लिखने का शौक़ है। मेरे साथ काम करने से पहले वे 'जागोरी' में थीं। पिछले कुछ वर्षों से 'जागोरी' ने जुही को 'सबला' के सम्पादन की ज़िम्मेदारी दे रखी है। बिंदिया बरसों 'सबला' की साज-सज्जा में 'जागोरी' की मदद करती रही। 'सबला' के लगभग सभी अंकों में बिंदिया का योगदान रहा है और 'हम सबला' के सब पाठक बिंदिया की कृतियों को देखते आये हैं। 'सबला' अब 'हम सबला' कहलाती है।

बिंदिया के साथ बनाई पुस्तकें

मेरी कई पुस्तकों की साज-सज्जा और उन्हें मुखर बनाने के लिये बिंदिया और मैंने बरसों मिलकर काम किया। जैसे मैं पहले बता चुकी हूं, हमारी पहली किताब जिसे बिंदिया ने अपने चित्रों से संजोया और रूप दिया वह थी "हमारी बेटियां इन्साफ़ की तलाश में।" एक और जिसका ज़िक्र हो चुका है वह है "मालू भालू" जिसका एक-एक चित्र अपने आप में एक पेन्टिंग है। जेन्डर की अवधारणा को बहुत ही सरल भाषा और तरीक़े से समझाने के लिये मैंने एक छोटी सी किताब लिखी— "लड़की क्या है? लड़का क्या है?" यह पूरी किताब दो भाषाओं में है- हिन्दी और इंग्लिश। बिंदिया के तस्वीरों के जादू ने इस किताब में जान फूंक दी। नारीवादी समूहों ने 15-20 देशों में अपनी-अपनी भाषाओं में इस का अनुवाद किया है और छापा है।

जेन्डर पर इस किताब को देख कर UNESCO ने मुझे उसी तरह की सरल भाषा में HIV/AIDS और युवाओं पर एक किताब लिखने को कहा। मैंने कहा मैं HIV/AIDS के बारे में ज़्यादा नहीं जानती। उन्होंने कहा HIV/AIDS की जानकारी तो वे मुझे दे देंगे। मुझे तो बस अपने ढ़ंग से वह किताब लिखनी है ताकि युवा उसे पढ़ें और HIV/AIDS की महामारी की चुनौती का मुक़ाबला करें। मैंने कहा अगर UNESCO बिंदिया से इस पुस्तक की रूप सज्जा करवायेंगे तो मैं लिख दूंगी। वे मान गये और इस किताब पर काम शुरू हुआ। मैंने कहा मैं पहले इस किताब को हिन्दी/उर्दू में लिखूंगी ताकि कुछ शेरो-शायरी भी हो सके। अब मैं फिर डींग मारूंगी और कहूंगी कि बिंदिया और मेरी साझेदारी से बनी यह पुस्तक अपने आप में अनूठी है। HIV/AIDS पर लिखी ज़्यादातर पुस्तकें जो हमने देखी थीं वे इतनी उरावनी थीं कि शायद ही कोई युवा उसे पढ़े। हमारी किताब है एकदम रंगीन, मज़ेदार। उसमें खूब कवितायें और नारे भी हैं। हर अध्याय का शीर्षक पद्य में है। इस किताब का शीर्षक है 'चलो ख़तरे को वरदान बनायें'। इंग्लिश में इस का शीर्षक है LET US TURN THIS DANGER INTO AN OPPORTUNITY यौन और यौनिकता को सरल रूप में, साफ़ साफ़ समझाया है, कॉन्डोम आदि पर खुल कर बात की है। मज़ाक-मज़ाक में वो बातें की हैं जो अकसर नहीं

की जातीं और उस ख़ामोशी से सब को नुकसान होता है। एक-दो नमूने पेश हैं हमारी शायरी के—

"टोपी कह लो थैली कह लो,
कॉन्डोम इज़ ए जौली गुड फ़ैलो"

"गर साथी आवारा है तो कॉन्डोम ही सहारा है"

मैं बता नहीं सकती बिंदिया को और मुझे इस किताब को बनाने में कितना मज़ा आया। इस किताब को बार बार टेस्ट करने के लिये, यह देखने के लिये कि युवाओं को ये समझ में आयेगी या नहीं, पसन्द आयेगी कि नहीं, हमने अपनी बेटियों का इस्तेमाल किया। मीतो और माओ ने कई बार इस किताब के मसौदे को पढ़ा और हमे अपने युवा सुझाव दिये। इस किताब की सब से बड़ी ख़ासियत है कि बिंदिया ने इस पूरी किताब को हाथ से लिखा है। जी हां, हाथ से किताबत की है। बताइये है जवाब इस कलाकार का? उसके चमत्कार का? मेहनत करने की उसकी क्षमता का? मैं वारी जाती हूं उस पर।

हिन्दी में यह किताब *UNESCO* और *NACO* ने छापी थी। हिन्दी में छपने और लोगों को पसन्द आने के बाद, दक्षिण एशिया के लिये हमने यह किताब इंग्लिश में की और इसे *UNICEF* ने छापा। आज यह किताब दक्षिण एशिया की कई भाषाओं में है।

हंसने का इन्तज़ाम– *LAUGHING MATTERS*

मुझे हंसना बहुत पसन्द है, इसलिये मुझे चुटकले पढ़ने, सुनने और सुनाने में बहुत मज़ा आता है। कई सालों से मैं नारीवादी चुटकुले इकटठे कर रही थी। मुझे याद है 1985 के दशक में मैं स्वीडन में थी। वहां पर मैंने नारीवादी चुटकुलों और कार्टूनों की एक किताब देखी जो स्कैन्डीनेवियन सरकारों के एक क्षेत्रीय महकमे ने छापी थी। मैं बहुत हैरान और ख़ुश थी यह देखकर कि वहां की सरकारें नारीवादी चुटकुलों को सिर्फ़ बर्दाश्त ही नहीं करतीं, उनकी किताब बनाकर उसे छापती भी हैं। वो किताब स्वीडिश में थी। मेरी दोस्त *EVA WARBERG* के साथ पूरी रात बैठकर मैंने वो सारे चुटकुले सुने, और जो मुझे पसन्द आये उनका अनुवाद किया। चूंकि मेरी बेटी मीतो को मेरे *JOKER* होने का पता था, वह भी मेरे लिये मज़ाकिया पोस्टकार्ड, कार्टून लाती रहती थी। मैं ख़ुद भी चुटकुले इकटठे करती थी। ख़ुद बनाती भी रहती थी। तब तक मैंने दक्षिण एशिया में कोई नारीवादी चुटकुलों की किताब नहीं देखी थी, न ही हमारे प्रकाशनों में चुटकुले पढ़े थे। हमारे नारीवादी आन्दोलन में मज़ाक के इस अकाल को ख़त्म करने की इच्छा थी मेरी। मुझे यक़ीन था कि पितृसत्ता को ध्वंस करने का हमारा सफ़र बिना हंसी-मज़ाक, मौज-मस्ती के नहीं कट सकता। मेरे बिंदिया पूर्व जीवन में मैं कई कार्टून बनाने वालों को आज़मा चुकी थी। कोई रास नहीं आया। चूंकि बिंदिया भी कम जोकर नहीं थी, मैंने उस से पूछा 'करें हंसी का इन्तज़ाम', मुझे यक़ीन था वह हां के

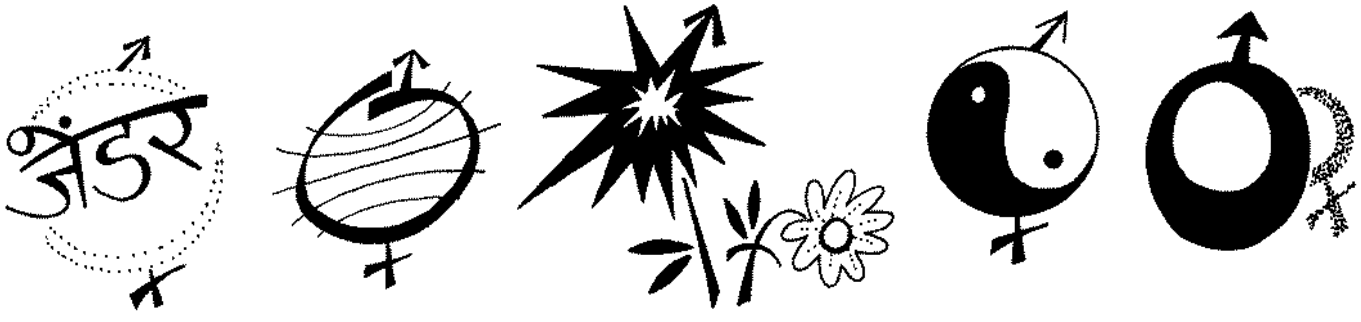

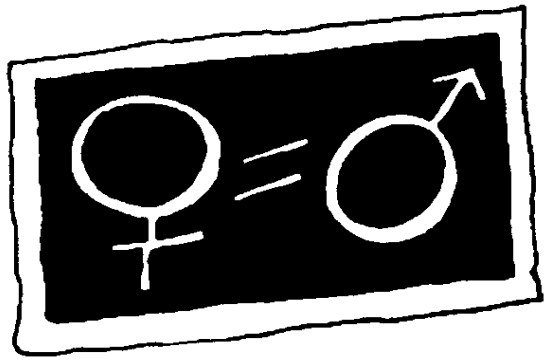

अलावा कुछ नही कह पायेगी। हंसते-हंसते यह किताब बन गई। 'जागोरी' के बीसवें जन्म दिन पर इसका विमोचन हुआ, यानी 2004 में।

2012 में बिंदिया ने और मैंने हिन्दी में एक जोक-बुक निकाली जिस का शीर्षक है 'हंसना तो संघर्षों में भी ज़रूरी है'। यह लगभग आधी किताब अंग्रेज़ी वाली जैसी है और आधी नई है। इस में मेरी कई मज़ाकिया और व्यंगात्मक कवितायें भी हैं। मेरी जानकारी के हिसाब से नारीवादी मज़ाक की दक्षिण एशिया में ये पहली पुस्तकें हैं।

बाल यौन-शोषण पर लिखी मेरी हिन्दी और इंग्लिश की छोटी किताब "काश मुझे किसी ने बताया होता" व *If Only Someone Had Broken The Silence* भी बिंदिया ने चित्रित की है। यह किताब बचपन के मेरे अपने अनुभवों पर आधारित है। बिंदिया ने इस किताब को भी बहुत संजीदगी से बनाया है। इस किताब का अनुवाद भी कई देशों की भाषाओं में हुआ है।

'जागोरी' और *'Kali For Women'* ने हिन्दी और इंग्लिश में मेरी चार-चार किताबें छापी थीं "पितृसत्ता क्या है"? "भला ये जेन्डर क्या है"? "नारीवाद: यह आख़िर है क्या"? और "मर्द, मर्दानगी और मर्दवाद"। पहले ये पुस्तकें बिना चित्रों के छपती रहीं। बिंदिया के साथ काम करने और उसके चित्रों के जादू के असर को समझने के बाद हमने इन आठ में से छ: किताबों को बिंदिया से डिज़ाइन करवा के कुछ और रोचक बनवाया। ये सब किताबें बहुत से प्रशिक्षणों में पढ़ाई जाती हैं। इनका भी अनुवाद 20-25 भाषाओं में हो चुका है जिनमें अरबी, तुरकी, दरी, वियतनामी, भी शामिल हैं। जब नारीवादी संस्थायें या स्वंयसेवी संस्थायें मेरी किताबों अनुवाद और प्रकाशन की इजाज़त मांगते हैं तो मेरी सिर्फ़ एक शर्त होती है कि बिंदिया का डिज़ाइन और चित्र नहीं बदले जा सकते। ऐसा इसलिये क्योंकि मेरा मानना है कि बिंदिया के चित्रों को बेहतर नहीं बनाया जा सकता।

हमारी एक किताब के ज़रिये बिंदिया और स्मितु का मिलन

जब 11 सितम्बर 2001 को न्यूयार्क में दो इमारतों पर हमला हुआ था तो मैं अपने काम के लिये काठमांडू में थी। राष्ट्रपति बुश के नेतृत्व में अमरीकी प्रतिक्रिया हिंसात्मक नज़र आ रही थी। वे इन दो इमारतों पर आतंकवादी हमले का जवाब पूरे देश पर हमला करके देना चाहते थे। उन लोगों को सज़ा देना चाहते थे जिन का इन आतंकियों से कोई रिश्ता नहीं था। यह अमरीकी हमला हमारे पड़ोसी देश अफ़ग़ानिस्तान पर होने की बात हो रही थी। इस युद्ध की आशंका ने सब अमन पसन्दों को विचलित कर दिया था। जगह-जगह इस युद्ध के इरादों का विरोध किया जा रहा था लेखन, वक्तव्यों और मोर्चों के ज़रिये। मैंने नेपाल से लौटते ही 14 सितम्बर 2001 को अपने तमाम दोस्तों के साथ इन्डिया गेट पर एक अमन जुलूस का आयोजन किया जिसका संदेश था आतंक का जवाब और बड़ा आतंक नहीं होना चाहिये। मेरे पुराने मित्र स्मितु (कोठारी) भी इस जुलूस में शामिल हुये थे।

इस जुलूस के दूसरे दिन स्मितु एक सुझाव ले कर मेरे घर आये। वे चाहते थे कि वे और मैं मिलकर ज़ल्दी से इस युद्ध की आशंका के ख़िलाफ़ लिखे जाने वाले लेखों कविताओं और कार्टूनों को इकटठा करें और एक किताब के रूप में इंग्लिश, हिन्दी और उर्दू में छापें। उनके एक मित्र इन पुस्तकों के प्रकाशन व वितरण के लिये भी तैयार थे। मैं तुरन्त इस नेक काम के लिये राज़ी हो गई। हमारा इरादा था तीस दिन के अन्दर कम से कम इंग्लिश वाली पुस्तक का प्रकाशन। हम तेज़ गति से इस हम काम में जुड़ गये। हमें लगा कि इस पुस्तक को प्रभावशाली और मन को छूने वाली बनाने के लिये इस में कुछ फ़ोटो, स्कैच, आदि होने चाहियें। मैंने डिज़ाईनर के लिये

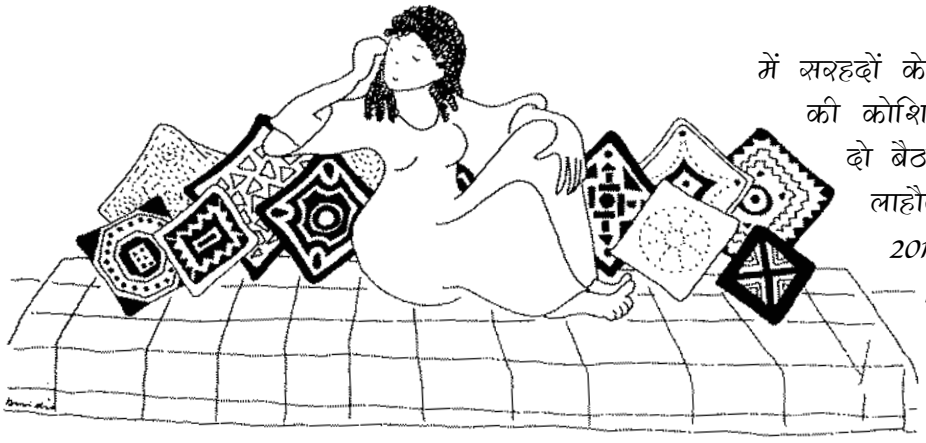

झट बिंदिया का नाम सुझाया और अगले दिन से हमारा तिगडडा काम करने लगा। हमारी तमाम बैठकें मेरे घर पर होती थीं। इस से पहले स्मितु और बिंदिया एक दूसरे को नहीं जानते थे। कुछ ही दिनों में मैंने देखा कि उनकी नई नई दोस्ती मोहब्बत में बदलने लगी। मैं खुश थी। नई किताब के साथ-साथ एक नया रिश्ता भी पनपने लगा था। 29 दिनों के अन्दर हमारी अंग्रेज़ी वाली किताब छप कर तैयार थी। उसका नाम है, *Voices of Sanity : Reaching out for Peace.* कुछ दिनों के बाद हिन्दी और उर्दू में भी ये पुस्तकें तैयार हो गईं। कुछ समय बाद इटली के एक प्रकाशन ने इसे इतालवी भाषा में छापा। युद्ध के खिलाफ़ पूरी दुनिया में आवाज़ें उठीं मगर अमरीका ने युद्ध किया और अफ़गानिस्तान व हमारा पूरा क्षेत्र उसके घातक नुकसान झेल रहा है और झेलता रहेगा।

कुछ समय बाद से बिंदिया और स्मितु ने बिंदिया के घर में इकटठे रहना शुरू कर दिया और 2006 में उन्होंने शादी की। रजिस्ट्रार को घर पर बुलाया और चन्द रिश्तेदारों और नज़दीकी दोस्तों की मौजूदगी में विवाह सम्पन्न हुआ। गवाहों में एक मैं भी थी।

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में अमन और दोस्ती लाने की कोशिशों का लेखा जोखा

स्मितु, बिंदिया और मैंने तीन पाकिस्तानी मित्रों-ज़िया मियां, ए.एच. नय्यर और मोहम्मद तहसीन के साथ मिल कर एक और पहल की। हमारे दो देशों के बीच सम्पर्क, समझ, दोस्ती, सहयोग बढ़ाने के लिये बंटवारे के बाद की गई सब कोशिशों का जायज़ा ले कर उन के बारे में लिखना और उसके ज़रिये इन कोशिशों को और मज़बूत बनाना। हमने दोनों मुल्कों में उन लोगों को सम्पर्क किया जो अलग-अलग क्षेत्रों में सरहदों के पार दोस्ती और साझेदारी बढ़ाने की कोशिश कर रहे थे। इसके लिये हमने दो बैठकें की, एक अमृतसर में और एक लाहौर में। सब लेखों का सम्पादन कर के 2010 में एक मोटी किताब छपी *Bridging Partition : People's Initiatives for Peace Between India and Pakistan* इस किताब का मुख्य पृष्ठ बिंदिया ने बनाया व *Orient Blackswan* ने इस का प्रकाशन किया।

स्मितु के साथ मिल कर बिंदिया ने भारत के जन आंदोलनों के बारे में दो कैलेन्डर बनाये। बिंदिया ने कई नारीवादी व अन्य आन्दोलनों से जुड़ी पुस्तकों के मुख्य पृष्ठ डिज़ाइन किये। पूना स्थित 'कल्पवृक्ष संस्था' के लिये पर्यावरण पर डिज़ाइन बनाये। प्राकृतिक अनेकता पर निहायत खूबसूरत दो पोस्टर भी बनाये थे। 'जागोरी ग्रामीण' 'मीतो मेमोरियल अवार्ड' और जयपुर में काम कर रही 'उमंग संस्था' के *Logo* भी बनाये। बिंदिया दरियादिली से अपना हुनर बांटती और काम में लेती थी। उसे लोगों की मदद करने में मज़ा आता था।

यहां मैं बिंदिया के सिर्फ़ उस योगदान के बारे में लिख पाई हूं जिनके बारे में मुझे पता है। मैं जानती हूं कि इस सब के अलावा भी बिंदिया ने बहुत कुछ किया था। बिंदिया की ये कृतियां आने वाली पीढ़ियों को उस की याद दिलाती रहेंगी। हमारे शरीर नश्वर हैं, मगर हमारे नेक काम ज़िन्दा रहते हैं।

बिंदिया की बहुआयामी दस्तकारी और कलाकारी

बिंदिया सिर्फ़ चित्र नहीं बनाती थी। वो और बहुत कलाओं में दक्ष थी। क्या खाना बनाती थी, हमारी दोस्त। उसका बनाया भोजन सिर्फ़ पेट भरने या स्वाद के लिये नहीं होता था। खाने के रंग, उसे पेश करने का तरीक़ा और खुशबू भी खूब होती थी। जब भी बिंदिया का बना खाना खाती थी, मैं कहती थी "यार बिंदिया, बहुत हाई क्वालिटी खाना खाते हो आप लोग"। उस घर में सबको खाना बनाने और खाने का शौक था/है। बिंदिया, माओ, स्मितु, अमित सब अच्छा खाना बनाते हैं। एक बार

मेरा बेटा छोटू या जीत जो पूरी तरह से विकलांग है, बहुत बीमार हो गया। उसका हीमोग्लोबिन 4 हो गया था। बिंदिया रोज़ उसके लिये कलेजी और काले चने बनाकर लाती। छोटू का खून बढ़ाती और हमारा हौसला बढ़ाती। कढ़ाई करने, कपड़े सीने और बुनाई में भी माहिर थी बिंदिया। इन दस्तकारियों में भी वो कलाकारी घोलती थी। बिंदिया हर चीज़ में सौन्दर्य ढूंढ़ती और पैदा करती थी। इन कामों से उसे सुकून मिलता था। मुझे याद है केरल के उस प्राकृतिक चिकित्सालय में भी वो कुछ न कुछ सीती रहती थी।

बिंदिया की सब से बड़ी कला–जीने की कला

बिंदिया और मैंने एक दूसरे को बहुत नज़दीक से देखा और जाना। सुख–दुख दोनों में देखा। दुखों में एक दूसरे का साथ देने की कोशिश की। जब हम मिले थे उस के कुछ समय बाद वह अपने पहले साथी राजीव से तलाक़ लेने की प्रक्रिया में थी। बहुत कठिन समय था उस के लिये। तब मैं उसे जानती थी पर हमारी क़रीबी नहीं थी। बहुत धैर्य, हिम्मत और गरिमा के साथ उसने यह समय गुज़ारा। बिंदिया की अम्मा प्रिमिला जी हमेशा उस का साथ देती थीं।

बिंदिया को जिन कृतियों का मैंने ऊपर ज़िक्र किया है उनमें से बहुत सारी उसने तलाक़ और कैंसर के दौरान की थी। चाहे तलाक़ हो, या कैंसर या स्मितु का अकस्मात गुज़र जाना, बिंदिया ने जीना नहीं छोड़ा। उस का काम उसे कमाई के साथ–साथ जीवन देता था, उसकी ज़िन्दादिली को ज़िन्दा रखता था। कैंसर के साथ बिताये 11 बरसों

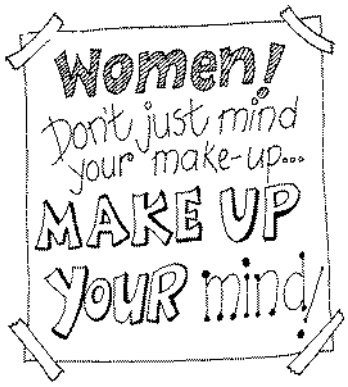

में बिंदिया हर साल पांच–छः महीने डॉक्टरों, टैस्टों, अस्पतालों, कीमो, कीमो की पैदा की गई तकलीफ़ों के साथ गुज़ारती और 5-6 महीने ठीक रहती थी। इन महीनों में वो पूरी तरह से जीने की कोशिश करती थी। इसी दौरान बिंदिया स्मितु के साथ अमरीका, अफ्रीका, इंग्लैण्ड गई। अपने एक परिवार के पास बंगलौर गई। मेरे साथ कलकत्ता, सुन्दरबन, ओड़िसा में चिल्का लेक गई। वह अपने मित्र प्रदीप किशन के साथ सैर करने जाती थी। अरूनधिति और गोलक के साथ गप्पें मारती थी। अन्शू, मंजरी, पिया, कीर्ति, व और बहुत से दोस्तों के साथ अड्डे करती थी। वह हर अच्छे लैक्चर, फ़िल्म, नृत्य, संगीत के प्रोग्राम में जाती थी। ज़िंदगी को कभी ताक में नहीं रखा बिंदिया ने यह कह कर कि कैंसर ठीक होने के बाद जीना शुरू करूंगी।

बिंदिया के हर आयाम, हर पहलू को मेरा सलाम। बिंदिया की दोस्ती, प्यार, और सहारा मेरी ज़िंदगी के लिये बहुत अहम था और हमेशा रहेगा।

कमला भसीन, *नारीवादी लेखिका व कार्यकर्ता हैं।*

बतौर 'यादगार' एक दोस्त की कलम से निकले ये अल्फाज़ और इन सफ़ों को सजाने वाले तमाम चित्र, पोस्टर, बैनर, कलाकृतियां जागोरी की सबसे रचनात्मक जोड़ी कमला भसीन व बिंदिया थापर की सृजनात्मक साझेदारी की एक छोटी सी झलक है। कमला के शब्द और बिंदिया के चित्रों की इस प्रेरणादायक विरासत का हम इस्तक़बाल करते हैं।

पृष्ठ 21-39 सभी रेखाचित्र, पोस्टर, बैनर जागोरी द्वारा प्रकाशित पठन सामग्री से लिए गए हैं।
अवधारणा व शब्दः कमला भसीन, चित्रांकनः बिंदिया थापर।

अपनी बेटी पद्मश्री किरण सेगल के साथ ज़ोहरा सेगल

अलविदा ज़ोहरा आपा

गौहर रज़ा

सैलफ़ोन की घंटी बजी, मैंने बेख़्याली में बटन दबाया, शबनम की आवाज़ आई— "ज़ोहरा आपा नहीं रहीं।"

दिमाग़ को ज़बरदस्त झटका लगा हालांकि यह हम सभी जानते थे कि एक न एक दिन तो यह होना ही है।

उधर से आवाज़ आई— "किरन का फ़ोन आया था, तुम सबको ख़बर कर दो, मैं भी कर रही हूं।"

लोगों को टेलीफ़ोन से यह ख़बर देते वक्त ज़ोहरा आपा का हंसता बल्कि खिलखिलाता चेहरा नज़रों के सामने था। उनके चेहरे की बातें करती और कहानियां कहती झुर्रियां, गहरी शोख़ आंखें, उतार-चढ़ाव से भरपूर चुलबुली आवाज़ सब बार-बार ज़ेहन में उभर रहे थे।

ज़ोहरा आपा की उम्र १०२ साल थी। उनसे मिलने वाले हर शख़्स को शायद मेरी तरह यह गुमान था कि ज़ोहरा आपा बस उसी की थीं। उनके बारे में पढ़े हर मज़मून में मुझे उनके लिए उतनी ही मुहब्बत दिखाई दी जितनी कि मैं महसूस करता हूं।

मैंने ज़ोहरा आपा को पहली बार सफ़दर के नाटक 'मोटेराम का सत्याग्रह' में स्टेज पर देखा था। उनकी अदाकारी ने देखने वालों पर जादू कर दिया था। नाटक में वे अपने से क़रीब चालीस साल छोटी उम्र के कलाकार की बीबी का रोल निबाह रही थीं लेकिन पूरे नाटक में उम्र के इस फ़ासले का अहसास ही नहीं हुआ। यह थी ज़ोहरा सेगल की अदाकारी!

सफ़दर की मौत के बाद मैंने 'जन नाट्य मंच' और 'सहमत' में काम करना शुरू किया तो ज़ोहरा आपा से रस्मों-राह बढ़ती गई। 'सहमत' के लिए शबनम को जब किसी मीटिंग, प्रोग्राम या प्रदर्शन के लिए उन्हें बुलाना होता तो कहती "तुम बात करो ना आपा से, वो तुम्हारी बात कभी नहीं टालेंगी।"

मुझे नहीं याद कि ज़ोहरा आपा ने पिछले तीस सालों में कभी किसी प्रोग्राम या मीटिंग के लिए इनकार किया हो या कभी अपने बुढ़ापे और ख़राब तबियत की दुहाई दी हो।

एक बार मुझे ज़ोहरा आपा से कुछ काम था और मैंने उनसे मिलने के लिए वक्त लिया। मैं 'अनहद' के दफ़्तर में था जहां कई नौजवान लड़के-लड़कियां भी मौजूद थे। सभी पीछे पड़ गए हम भी चलेंगे उनसे मिलने। ख़ैर, चलने से पहले टेलीफ़ोन किया।

"ज़ोहरा आपा मेरे साथ पांच-सात बच्चे भी आना चाहते हैं आपसे मिलने।"

"हां, ज़रूर।"

"चाय की तकलीफ़ ना करें।"

दूसरी तरफ़ से आवाज़ आई— "इतना भी बुरा ज़माना नहीं आया है कि ज़ोहरा के घर चाय की पत्ती ख़त्म हो गई हो। मुझे सुनाई नहीं दे रहा, ऊंचा सुनती हूं ना," और एक कहकहे के साथ लाइन कट गई।

हम सभी सीढ़ियां चढ़ते, हांफ़ते-कांपते ऊपर पहुंचे, उनकी बिल्डिंग में लिफ़्ट नहीं थी। हर एक के ज़ेहन में यही सवाल था कि नब्बे बरस की ज़ोहरा आपा कैसे कहीं बाहर आती जाती हैं।

छोटा सा कमरा, जिसे जहां जगह मिली वहीं बैठ गया, कुछ बच्चे फ़र्श पर बैठ गए और बातों का सिलसिला कहां से कहां पहुंच गया पता ही न चला। ऐसा लग रहा था जैसे बच्चे दादी को घेर कर बैठे हैं और उन पर कहानियों का जादू तारी है। जब चाहती सबको हंसा देतीं, जब चाहती संजीदा कर देतीं और जब चाहती सबकी आंखे नम कर देतीं।

अचानक बोली "तुम्हें मालूम है कैंसर के मरीज़ों का भी एक तंज़ीम है, मुझे बुलाया है। मुझे भी कैंसर है, आह! ऐसा मुंह मत बनाओ अभी मरने वाली नहीं हूं, यहां पिंडली में है।"

उन्होंने अपनी सलवार का पांयचा ऊपर उठाया और बोली— "जहां कैंसर है वहां गरम महसूस होता है। छूकर देखो।"

एक-एक करके सभी बच्चे फ़िक्रमंदी से उनकी पिंडली छूने लगे। तभी उन्होंने कहकहा लगाया और आंखों में शरारत भर कर कहने लगीं "बड़े मज़े हैं। ज़ोहरा की पिंडली छूने को मिल रही है।"

सब हंसने लगे। न कैंसर का दुखड़ा, न दर्द का रोना, इसी तरह बरता उन्होंने अपनी हर बीमारी को।

ज़ोहरा आपा की याददाश्त कमाल की थी। 'सहमत' ने फ़ैसला किया कि 1957 मनाएं और लाल किले पर प्रोग्राम किया जाए। मुझसे एक वृत्तचित्र बनाने को कहा गया। हमारे पास 1957 की कुछ ज़्यादा तस्वीरें नहीं थीं। यहां-वहां से कुछ 'ऐचिंग्स' हासिल कीं। उनके साथ पन्द्रह मिनट की फ़िल्म नहीं बन सकती थी। मैंने सोचा क्यों न ज़ोहरा आपा से कहें कि वे कमेन्ट्री के कुछ हिस्सों को स्टेज पर अदाकारी के साथ पेश करें और बाक़ी कमेन्ट्री मैं तस्वीरों के साथ दूं।

फ़ोन किया "ज़ोहरा आपा मिलना है।"

"हां तो आ जाओ, कब आओगे।"

मैंने उन्हें अपनी तजवीज़ बताई, उन्हें बेहद पसंद आई। नब्बे साल की उम्र में भी वो नए तजुर्बों के लिए हमेशा तैयार रहती थीं। अगले दिन उन्हें

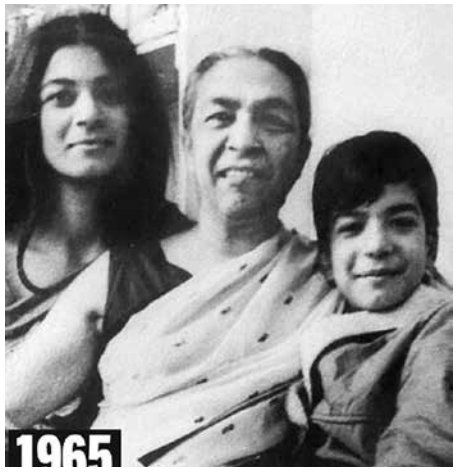

स्क्रिप्ट पढ़कर सुनाई। जब पढ़ना ख़त्म कर के मैंने नज़रें ऊपर उठाईं तो ज़ोहरा आपा की आंखों में आंसू थे। लगा इम्तहान पास हो गया।

बोलीं "बेहद अच्छी है, कल आना, मैं वो हिस्से चुन लूंगी जो ज़्यादा जज़्बाती हैं।"

अगले दिन फिर पहुंच गया। चाय के दौरान हमेशा की तरह मज़ाक कर रही थीं लेकिन ज़ेहन कहीं खोया हुआ था।

उन्होंने स्क्रिप्ट मुझे दी और कहा मैंने निशान लगा दिए हैं, तुम अपने हिस्से पढ़ते जाना।

कुर्सी से उठी और बग़ैर किसी कागज़ को देखे अपना हिस्सा अदाकारी के साथ पेश करने लगीं। मैं भौचक्का उन्हें देख रहा था। अपना हिस्सा ख़त्म करके बोलीं, अपना हिस्सा पढ़ो।

मैंने हड़बड़ा कर स्क्रिप्ट को देखा।

उन्होंने बिना एक लफ़्ज इधर से उधर किए क़रीब पांच पेज, एक रात में मुंह ज़बानी याद कर लिए थे। यहां तक कि उन्हें मेरे हिस्से भी याद थे।

मैंने सोचा, "ख़ुदाया, किस जादूगरनी से पाला पड़ा है।"

11 मई 1997 को लाल किले पर हज़ारों लोगों की मौजूदगी में बिना रिहर्सल किए ज़ोहरा आपा ने वो अदाकारी की जो आज भी लोगों को याद है। मेरी तमन्ना ही रह गई कि वो कहीं तो ग़लती करतीं, पूरे प्रोग्राम में कहीं तो नज़र का काला टीका होता।

छः महीने बाद मैंने कुछ पैसे जुटाए, स्टूडियो हासिल किया और शूटिंग के लिए ज़ोहरा आपा को फ़ोन किया।

उधर से आवाज़ आई "हां, बताओ कब आऊं?"

मैंने पूछा आपके पास स्क्रिप्ट है या भेजूं। बोली स्क्रिप्ट की क्या ज़रूरत है, मुझे याद है। शूटिंग के दौरान बिना किसी ग़लती के "सिंगल टेक" में शूट पूरा किया। पूरी टीम दंग थी उस पर आपा का अंदाज़ यह कि जैसे कुछ ख़ास बात नहीं।

पति कामेश्वर सेगल और ज़ोहरा

2005 में शबनम ने कहा, "महिलाओं का एक सम्मेलन हो रहा है। ज़ोहरा आपा से कहो हम उनकी उसी तकरीर से शरूआत करना चाहते हैं।"

मैंने फ़ोन किया, बात तय हो गई। प्रोग्राम हुआ और सात साल बाद भी उन्हें स्क्रिप्ट लफ़्ज-ब-लफ़्ज याद थी।

ज़ोहरा आपा के बड़े एहसान हैं मुझ पर। मेरी नज़्मों के ऑडियों कैसेट में उन्होंने अपनी आवाज़ दी। 96 साल की उम्र में उन्होंने भगतसिंह पर मेरी फ़िल्म इंकलाब में अदाकारी की।

मेरे ख़याल में ज़ोहरा आपा 102 साल तक इसलिए ज़िंदा रहीं कि हर बार यमदूत को अपनी जादू भरी बातों और कहानियों में उलझा लेती होंगी और मौत के फ़रिश्ते हंसते हुए लौट जाते होंगे। इस बार उन्होंने कहा होगा "चलों में भी तुम्हारे साथ चलती हूं। ज़रा देखूं सही इस दुनिया के उधर क्या है। यह मत समझना कि मैं थक गई हूं।"

ऐसी थीं ज़ोहरा आपा।

अभिव्यक्ति के अनेक चेहरे, साभारः इंटरनेट

गौहर रज़ा, लेखक व अमन कार्यकर्ता हैं।

लेख

मधुबनी पेंटिंग में 'मोर'

मधुबनी-मिथिला पेंटिंग
औरतों की एक खूबसूरत और चटकीली पहचान

अनुपमा झा

'किलकारी', पटना के विभिन्न बाल केंद्र बिहार सरकार के माध्यमिक स्कूलों के बच्चों के साथ काम करते हैं। अवसर, जानकारी और कुछ कर पाने के आत्मविश्वास के उन तक न पहुंच पाने के कारण इन स्कूलों में पढ़ने वाले अधिकतर बच्चे बहुत तरह की सम्भावनाओं से दूर रह जाते हैं। *किलकारी*, पटना ने इन संभावनाओं को खोज पाने का जज़्बा बच्चों में विकसित करने के लिए कला की विभिन्न विधाओं को माध्यम बनाया है। पटना ज़िले के दस केंद्रों पर बिहार का जो रंग सबसे खिला हुआ, बिखरा हुआ नज़र आता है वह है, मधुबनी/मिथिला पेंटिंग।

इस कला के चटख रंग और लुभावनी कलाकृति ने लड़के-लड़कियों को जैसे अपनी चाह को खूबसूरत तरीक़े से बयान करने का एक माध्यम दे दिया था। बच्चों को यह खूबसूरत उड़ान देने का काम किया है शिवानी रंजन ने। मधुबनी ज़िले के राजनगर, सिमरी की निवासी शिवानी इस विधा को अपनी खानदानी धरोहर मानती हैं। बचपन में मां और दादी के संसर्ग ने इस कला से इनका परिचय कराया और आज वह खुद तक़रीबन 700 बच्चों को इस कला से जोड़ चुकी हैं। पटना में रहने वाली, तीन बच्चों की मां और मध्यम वर्ग की सदस्या शिवानी अपनी इस कला के ज़रिये खुद की पहचान बनाने के साथ-साथ अपने परिवार को आर्थिक रूप से सम्पन्न की चाह के साथ आगे बढ़ रही हैं।

शिवानी की मां सुधा देवी भी बचपन से मिथिला पेंटिंग को कागज़ और कपड़े पर उतारा करती थीं, परन्तु उनकी यह कला घर के अन्दर तक ही सीमित रहती थी। शादी के बाद उनकी सास ने अपनी कला को घर से बाहर लाने के लिए प्रोत्साहित किया। आज सुधा देवी की रचना देश-विदेश में पसंद की जाती है। उन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। सुधा देवी की पेंटिंग जापान में बहुत पसंद की गई। उनकी कलाकृति ने आज जापान के स्कूल की किताबों में भी अपनी जगह बना ली है। शिवानी ने घर की अन्य लड़कियों की तरह अपना ताल्लुक इस कला से बचपन से ही जोड़ लिया था, परन्तु मैट्रिक पास करने के बाद अपने इस हुनर की मदद से अपनी पहचान बनाना शुरू किया। साड़ी, दुप्पटों आदि पर तरह-तरह के

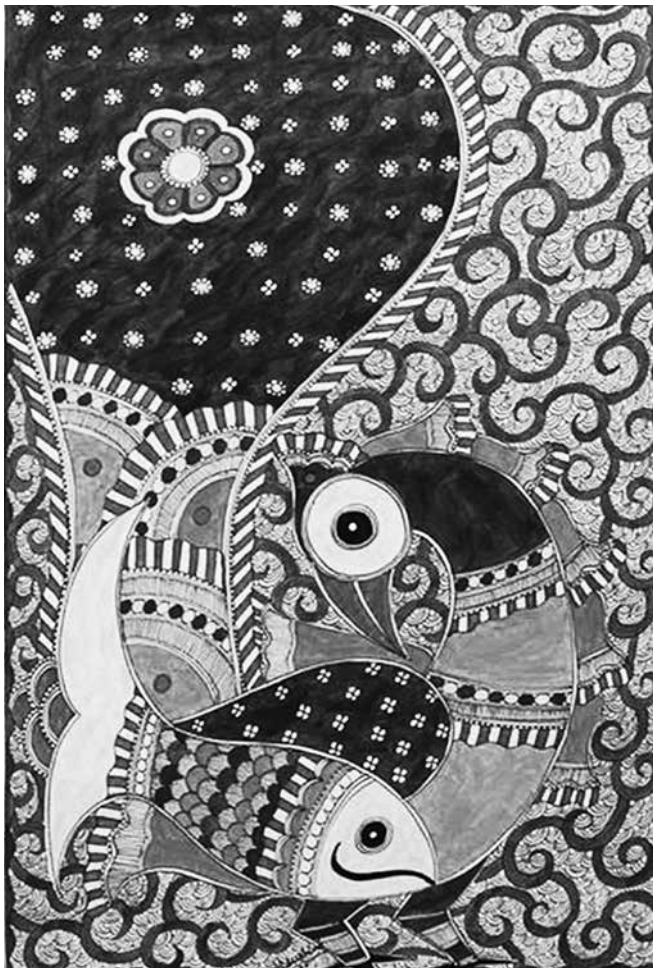

श्याम-श्वेत मधुबनी पेंटिंग

विधि-विधान और पौराणिक कहानियों का चित्रण करना शुरू कर दिया। इन साड़ियों और कपड़ों को बाज़ार में ले जाने का काम इनके चाचा करते हैं। दिल्ली हाट, पटना और दूसरी जगह लगाने वाले उद्योग मेलें में इनका स्टॉल हुआ करता है। इनके हर कदम पर इनकी मां इनके साथ होती हैं। शिवानी अपने इस हुनर को दूसरों तक भी पहुंचाने की इच्छा रखती है और इस इच्छा ने उन्हें *किलकारी* से जोड़ा है।

शिवानी इस कला को, जो ख़ास कर मिथिला की महिलाओं की धरोहर है, अपने खून में रचा बसा पाती हैं। मिथिला की यह कला, जिसका सीधा सरोकार मिथिला की संस्कृति से है, ने यहां की औरतों को भारत और विदेश के बाज़ार से सीधे तौर पर जोड़ दिया है। मिथिलांचल के घरों के अन्दर सिमटी यह कला पहली बार 1934 के भूकम्प के बाद दुनिया के सामने आयी थी। घरों की दीवारों और फर्श पर चित्रित इस कला को देख विलियम जी. आरकर (जो बाद में लन्दन के विक्टोरिया और अल्बर्ट संग्रहालय में दक्षिण एशिया के संग्राध्यक्ष हुए) दंग रह गए थे। इन्डियन आर्ट जर्नल के 1949 में प्रकाशित हुए एक लेख ने मिथिला की महिलाओं के इस हुनर को विश्व के सामने लाकर रख दिया। खूबसूरत, चटकीले रंगों के इस्तेमाल कर बने ये चित्र इतने मनमोहक थे कि 1960 में फैले सूखे के दौरान अखिल भारतीय हस्तकला परिषद ने मिथिला की कुछ उच्च जाति की महिलाओं को अपने इस हुनर को कागज़ और कपड़ों पर उतारने के लिए प्रोत्साहित किया और फिर महिलाओं ने अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में अपनी जगह बना ली।

मिथिला के छोटे से भाग में घर के अन्दर की दुनिया मे सिमटी रहने वाली इन महिलाओं के इस हुनर ने जो सिर्फ़ शादी, उपनयन संस्कार जैसे पवित्र रीति-रिवाजों के समय अपने घर को सजाने के लिए इस्तेमाल किया जाता था, भारत की संस्कृति और पौराणिक कहानियों को बहुत खूबसूरत तरीक़े से पूरे विश्व के सामने ले कर आया। कहा जाता है कि मिथिला के राजा जनक ने अपनी पुत्री सीता के विवाह के समय पूरी मिथिला को इस खूबसूरत चित्रकला से सजाया था। राम-सीता के विवाह की कहानी, राधा-कृष्ण के प्रेम, हिन्दू देवी देवताओं और रीति-रिवाज को दर्शाने वाली यह कला आज भारत की संस्कृति, दर्शाने के साथ-साथ हर व्यक्ति को अपनी कल्पना को बड़े ही मनमोहक अंदाज़ में दिखाने का मौका देती है।

मानवीय रूप के अलावा मधुबनी चित्रकला में जो डिज़ाइन और आकृति महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करते हैं— वह हैं पक्षियों में मोर, तोता, जानवर में मछली, शेर, कछुआ, सांप, हाथी,फूल में कमल, पान, पुरनिया की पत्तियों के

मछली और फूल

'चिड़िया' मधुबनी पेंटिंग

साथ छोटे-छोटे गोले और तिरछी लकीरें। इन सारी आकृतियों और डिज़ाइन को सम्पन्नता और शांति का प्रतीक माना जाता है। मछली किसी काम के शुभ शुरूआत का प्रतीक तो है ही साथ ही वह पानी को भी दर्शाने का काम करती है। हर आकृति के चारों तरफ खींची गयी दोहरी लाइन के बीच का स्थान रंगों से नहीं बल्कि तिरछी रेखाओं से भरा जाता है जिसे 'कचनी' कहते हैं।

महिलाओं को अपने काम को अंजाम देने के लिए हमेशा सीमित संसाधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। मिथिला की महिलायें प्राकृतिक संसाधन की मदद से ही अपनी कल्पना को रूप देती हैं। ब्रश की जगह माचिस की तीलियों, बांस की टहनी और प्राकृतिक रंगों का इस्तेमाल इन अनपढ़ महिलाओं का इन संसाधनों से उनके गहरे परिचय को सामने लाता है। काले रंग के लिए चूल्हे या चिमनी की कालिख को गाय के गोबर से मिलाया जाता है, हल्दी और पराग कण से पीला रंग, नील से नीला, कुसुम या जवा फूल के रस या लाल चन्दन से लाल, सेम या सेब के पत्ते से हरा, जामुन से जामनी, चावल के आंटे से सफ़ेद और पलाश के फूल से नारंगी रंग बनाया जाता है। हालांकि बाज़ार से जुड़ने के बाद इन महिलाओं को ब्रश और कृत्रिम रंग भी मिलने लगे हैं और वे इनका इस्तेमाल भी कर रही हैं, पर प्राकृतिक साधनों की समझ में कमी नहीं आई है।

दीवार, फर्श और बहुत से अन्य वस्तुओं पर चित्रित होने वाली महिलाओं की इस कला में जातीय समीकरण भी साफ़ नज़र आता है। इस कला पर पहले उच्च वर्ग का ही अधिकार माना जाता है। पर अब मिथिला की अधिकतर महिलाओं ने इसे अपनी धरोहर मान लिया है। साथ ही जाति के अनुसार विधा के विभिन्न रूपों का बंटवारा भी हो गया है। ब्राह्मण महिलायें देवी-देवताओं की कहानियों और कोहबर को चटकीले रंगों से किसी भी तरह के शेड के बिना सजाती हैं, वेद और धार्मिक ग्रंथ के श्लोक को चित्रित करने का अधिकार भी इन महिलाओं के पास है। जबकि कायस्थ महिलायें अपने क्षेत्र के रीति-रिवाज को खूबसूरती से लाइन की मदद से बिना किसी चटकीले रंग से दर्शाती हैं, ये श्वेत-श्याम चित्र जिसमें शेडिंग का अपना कमाल नज़र आता है काफी मनमोहक होते हैं। शिवानी की कृतियों में यह बंटवारा साफ़ नज़र आता है। उनकी पेंटिंग में मधुश्रावनी, उपनयन और शादी की रीत, महिलाओं के पर्व, और बिसहरी जैसी मिथिला की कहानियां नज़र आती है, कृष्ण-राधा और राम-सीता की कहानियां तो जैसे इस चित्रकला का हृदय है। बच्चों के साथ काम करते समय चटकीले रंग का इस्तेमाल तो होता है, परन्तु उनकी पसंद है श्वेत-श्याम रंग। शिवानी कायस्थ परिवार की सदस्या हैं।

हरिजन महिलायें अपनी कृतियों में अपने रोज़मर्रा की ज़िन्दगी को इन लाइनों की मदद से दर्शाती हैं। चटकीले रंगों का इस्तेमाल इस वर्ग में भी कम ही होता है। घर, खेती-गृहस्थी से जुड़े हर पल से इन सीधे-सादे चित्रों के ज़रिये हम खुद को सीधे तौर पर जोड़ सकते हैं।

घरों के दीवारों में छुपी इस कला को भी उसकी ख़ासियत के आधार पर अलग-अलग नाम देकी पांच वर्गों में बांट दिया गया है— कांची, भरनी, तांत्रिक, गोड़ना और गोबर। कांची, भरनी और तांत्रिक चित्रकला ब्राह्मण और कायस्थ महिलाओं के अधिकार क्षेत्र में आते हैं जबकि गोड़ना और गोबर स्टाइल दलित और दुसाध महिलाओं की ख़ासियत मानी जाती है।

बिहार के मधुबनी ज़िले की यह खूबसूरत चित्रकला अब पूरे विश्व में फैल चुकी है, इस क्षेत्र की महिलाओं को इसने आर्थिक स्वतंत्रता के साथ आत्मविश्वास भी प्रदान किया है। यह कला अब हमारे सामने कागज़, कपड़ों के साथ-साथ टाइल्स, डगरा, सूप आदि पर भी नज़र आती है और चारों तरफ इन महिलाओं की खूबसूरत कल्पना को बिखेर देती है। हालांकि आज पुरुषों ने भी खुद को इस कला से जोड़ा है, परन्तु यह कला हमेशा मिथिला की महिलाओं की देन ही मानी जायेगी। इस पर पहला अधिकार इन महिलाओं का ही है।

अनुपमा झा *बिहार में बच्चों के साथ काम करती हैं।*

हंसा वाडेकर
रंगमंच व मराठी फ़िल्म अभिनेत्री

नगमा जावेद मालिक

हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है...
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में कोई दीदावर पैदा।

संत सखू फ़िल्म से

महाराष्ट्र की धरती कलाकारों के लिए बेहद उर्वर है। लता मंगेशकर, आशा भोंसले, स्मिता पाटिल आदि नामी कलाकारों ने इसी धरती पर जन्म लिया है। हंसा वाडेकर का नाम भी किसी परिचय का मोहताज नहीं है। वह भारतीय सिनेमा की एक कदआवर हस्ती हैं। वह कलाकार ही नहीं थीं एक कलमकार भी थीं। उनके द्वारा लिखी गयी आत्मकथा इसका सशक्त प्रमाण है। हंसा का जन्म 24 जनवरी 1923 को मुंबई में हुआ था, असली नाम था रत्न भालचंद्र सलगांवकर। साथ ही नृत्य और संगीत तो उन्हें विरासत में मिला था, अंग्रेज़ी की शिक्षा भी वाडेकर ने हासिल की। 'विजयाची लग्ने' उनकी पहली मराठी फ़िल्म थी जो ललित कला दर्शन ने बनाई थी। वाडेकर की उम्र उस समय केवल 13 वर्ष की थी।

'मैं बोलती हूं तुम सुनो' (सांगत्ये ऐका) हंसा वाडेकर द्वारा 1970 में लिखी गई आत्मकथा— फ़िल्म है जिसने पूरे महाराष्ट्र में जागरूकता और हलचल पैदा कर दी। इस फ़िल्म के कथा लेखक और नाटककार मामा वरेरकर थे जिन्होंने रत्न का नाम बदलकर उसे फ़िल्मी नाम हंसा दिया था। यही हंसा नाम हमेशा के लिए उनकी पहचान बन गया। 1941 में प्रभात फ़िल्म पुणे में वह 'संत सखू' फ़िल्म में काम करने के लिए आईं। यह फ़िल्म बॉक्स ऑफिस पर हिट हुई। उन्हें नाम और शोहरत मिली। इसके बाद उन्होंने 'रामशास्त्री' व 'लोकशाहिर' फ़िल्मों में काम किया जो अत्यंत प्रसिद्ध हुई।

1948 में हंसा ने केवल एक ही हिंदी फिल्म 'धन्यवाद' में काम किया जिसके निर्देशक गजानंद जागीरदार थे। 1955 में 'मैं तुलसी तुझा अंगणी' में उन्होंने काम किया, इसके निर्देशक राजा ठाकुर थे। 'नयाकनिचा सज्ज्या' 1957 में भालजी पेंढारकर के निर्देशन में बनी फ़िल्म एक बेहतरीन फ़िल्म थी। इन सभी फ़िल्मों में हंसा के मंझे अभिनय को बहुत सराहा गया। 'सांगत्ये ऐका' 1959 में रिलीज हुई। 131 सप्ताह तक विजयानंद टाक़ीज पुणे में लगी रही। यह उस समय का एक ज़बरदस्त रिकार्ड था। 1968 में हंसा को 'धर्मकन्या' के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 'पुडचा पौऊल' (अगला कदम) उनकी अगली फ़िल्म 1970 में राजा परांजपे के निर्देशन में बनी।

15 वर्ष की छोटी उम्र में हंसा का विवाह उनके एक रिश्तेदार भण्डारकर से हुआ। अपनी निजी ज़िन्दगी में उन्हें बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यहां तक कि समाज में सम्मानित कहलाने वाले लोगों ने शादी के बंधन के बावजूद उनसे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित किए। इन सारी सच्चाइयों का वर्णन उन्होंने अपनी आत्मकथा 'मैं कहती हूं, तुम सुनो' में किया है। जाने-माने निर्देशक वी. शांताराम ने भी हंसा की ज़िन्दगी पर एक फ़िल्म बनाई। श्याम बेनेगल की फ़िल्म 'भूमिका' अभिनेत्री हंसा के जीवन पर आधारित एक प्रभावशाली कहानी है। हंसा का किरदार निभाया है प्रसिद्ध अदाकार स्मिता पाटिल ने। फ़िल्म की कहानी हंसा के जीवन की कड़वी सच्चाई को मार्मिकता से दर्शकों के सामने रखती है। कहानी कुछ इस प्रकार है— उषा एक

मशहूर गायिका की नाती है जिसका सम्बन्ध परम्परागत देवदासी समुदाय से है। उषा की शादी एक शराबी और क्रूर ब्राह्मण से हुई है। पति के देहांत के बाद अपनी मां के विरोध के बावजूद इस परिवार के प्रति सदभावना रखने वाला केशव दलवी (अमोल पालेकर) उसे बम्बई ले जाता है। बम्बई स्टूडियो में ऑडिशन में वह गायिका के रूप में चुन ली जाती है। इस पर उसको प्यार करने वाली नानी का समर्थन तो मिलता है पर उसे मां फटकारती है। धीरे-धीरे एक बाल कलाकार के रूप में वह प्रसिद्ध हो जाती है।

हंसा अपनी ज़िद के चलते केशव के साथ प्रेम विवाह कर लेती है। केशव आयु में उससे बड़ा है और अनाकर्षक भी है लेकिन बचपन से ही हंसा उससे प्रभावित है। दूसरे वह अपनी अभिनय कला से भी आनंदित होती है। मां इस शादी का विरोध करती है क्योंकि केशव उनकी जाति का नहीं है। वह सिनेमा में काम के भी ख़िलाफ़ है क्योंकि यह उसकी नज़र में सम्मानजनक काम नहीं है। उषा की शादी के बाद भी केशव उसे काम करने को मजबूर करता है जबकि उषा 'हाउस वाइफ़' बनकर रहना चाहती है। वह एक मशहूर कलाकार राजन को हीरो बनाता है जो हंसा से एक तरफा प्रेम करता है। कुछ समय बीतता है और केशव का बिजनेस खराब हो जाता है। घरखर्च का बोझ उषा पर आ पड़ता है जो केशव को नागवार गुज़रता है। केशव का अहम उसे एक ईर्ष्यालू और लालची पति बना देता है। इसी दौरान उनके यहां एक बेटी का जन्म होता है। शक़ में गिरफ्तार केशव उषा की ज़िन्दगी को नरक बना देता है। उसे मारता-पीटता है और मानसिक रूप से शर्मनाक हद तक प्रताड़ित करता है।

टूटी हुई और निराश उषा के असन्तोषजनक सम्बन्ध दो पुरुषों के साथ बनते हैं। एक है स्वार्थी और दुष्ट निर्देशक सुनील वर्मा (नसीरुद्दीन शाह) और दूसरा अमीर व्यापारी सुनील काले (अमरीश पुरी)। थोड़े समय के लिए ही सही उसे काले की दूसरी पत्नी की हैसियत से आदर मिलता है। काले उसे एक भव्य कोठी में रखता है। यहां काले की मां, बेटा और बिस्तर से लगी उसकी पहली पत्नी से भी उसे प्यार और प्रशंसा मिलती है। लेकिन एक दिन जब वह काले के बेटे को एक नज़दीक लगे मेले में ले जाना चाहती है तो काले का दोगला चेहरा उसके सामने आ जाता है। उसे एहसास होता है कि इस घर में ज़रा-सी भी बुनियादी आज़ादी हासिल नहीं है। वह लड़के को उसके साथ जाने से रोक कर असह्य घरेलू बंधनों और अपनी गिरी हुई मानसिकता का परिचय देता है।

काले की पत्नी के शब्द भी उषा को कचोट देते हैं— 'बिस्तर बदल सकते हैं, रसोईघर बदल सकते हैं, आदमियों के मुखौटे बदल सकते हैं लेकिन आदमी नहीं बदलता।' इस स्थिति में उसे उम्मीद की किरन के रूप में उषा को एक बार फिर केशव याद आता है।

केशव उसे किसी अलंकार के रूप में सही समय पर फिर से मुंबई लाता है। और एक बार दोबारा उषा काम और अभिनय की राह पर चल पड़ती है। इस फ़िल्म का यह अंत दुःखद और धुंधला है। मराठी सिने जगत की यह महान नायिका भी एक संघर्षरत और नाखुश जीवन जीते-जीते इसी तरह 23 अगस्त 1971 को केवल 47 वर्ष की छोटी आयु में इस दुनिया से रुखसत हो गईं। अपने पीछे छोड़ गई वह एक महान कला का खज़ाना जो उनके हुनर और लगन का प्रतीक है।

संत सखू फ़िल्म में हंसा वाडेकर

नगमा जावेद मालिक, *मुंबई में हिन्दी साहित्य की प्रोफ़ेसर हैं।*

संवाद

सर्कस की 'नई' दुनिया की झलकियां

(गाइनॉइड्स और वल्काना महिला सर्कस)

मारी-ऐन्द्री रॉबिटैल

क्यूबॅक, कनाडा में नब्बे के दशक में सर्कस कलाकार होना कोई आम पेशा नहीं था परंतु मॉन्ट्रियाल में *राष्ट्रीय सर्कस स्कूल* की स्थापना ने इसे एक संभावना का रूप दे दिया था।

अनेक वर्षों तक अपने विश्वविद्यालय की दौड़ में हिस्सा लेने वाली नामी टीम की सदस्य रहने के बाद मैं एक पेशेवर प्रशिक्षण कार्यक्रम में नृत्य तथा सर्कस स्कूल में अपना कलात्मक विकास करने लगी।

मैं अपने आपको भाग्यशाली समझती हूं कि मैं एक ऐसे देश और परिवार में पली बढ़ी, जहां यह मानना संभव था कि मैं जो चाहूं वह बन सकती हूं। मेरी महत्वाकाक्षांओं की पूर्ति में मेरा लड़की होना कोई बाधा नहीं था। मेरे माता पिता ने मुझे सिखाया कि मैं दिमाग खुला रखूं और जीवन मूल्य तय करते समय परम्पराओं की जगह अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करूं। मेरे माता-पिता दृश्य कलाओं से जुड़े थे। अस्सी के दशक में जब मैं किशोरावस्था से गुज़र रही थी मेरी मां ने मुझे मडोना के संगीत का कैसेट दिया। मेरे कई फ़ैसलों पर मडोना का प्रभाव पड़ा जिन्होंने मेरी जीवन दिशा तय की। मैं भी मनोरंजन उद्योग से जुड़ गई।

लगभग एक दशक तक मैं स्वीडन से चीन, ग्रीनलैण्ड से मेसेडोनिया तक के दौरे करती रही। विभिन्न लोगों और संस्कृतियों को जानना मेरे लिए बहुत शिक्षाप्रद था। हालांकि मेरी उम्र कम थी और मैं बहुत सी बातें नहीं समझती थी लेकिन मुझे यह अहसास था कि मैं सही जगह पर, सही लोगों के साथ हूं और मैं यही जीवन जीना चाहती हूं।

फ़ोटो- गाइनॉइडस प्रोजेक्ट

सर्कस का काम जैसा चमक — दमकपूर्ण दिखाई देता है वैसा है नहीं। मिट्टी के बीच लगे तम्बुओं में रहना, सर्दी में ठण्डी गाड़ियों में सफ़र करना, अनिश्चित आमदनी। इस क्षेत्र में होड़ भी कम नहीं है। हमें लगातार दूसरों से कुछ अलग, कुछ बेहतर पेश करना होता है। यह काम ख़तरों से भरा हुआ है। एक छोटी सी चूक पेशेवर जीवन को या फिर जीवन को ही ख़त्म कर सकती है। किसी प्रकार का बीमा न होना इस पेशे को तलवार की धार पर चलने जैसा बना देता है। इस सबके बावजूद मैं कहूंगी कि मेहनत और नम्रता सीखने और अपना सर्वोत्तम लोगों में बांटने के लिए इससे बेहतर जगह मुझे कहीं नहीं मिली।

सालों की यात्राओं और प्रदर्शनों के बाद मैं मंच से पृष्ठभूमि की ओर चली गई। मैंने अध्यापक, प्रशिक्षक, कलात्मक सलाहकार और यहां तक कि प्रतिभा खोजी का काम भी किया। मैंने सर्कस के हर विभाग में काम करने का अनुभव प्राप्त किया। उम्र और अनुभवों के साथ मुझे समझ में आने लगा कि जो सामान्य रूप से होता है, ज़रूरी नहीं कि वह सही और अच्छा हो।

मैंने पाया कि सर्कस की गतिविधियों के सभी पहलुओं में औरतों की भागीदारी कम होती है। उन्हें कामुक रूप में वस्तु की तरह इस्तेमाल करके छोटा बनाया जाता है जो किसी तरह मंज़ूर नहीं किया जा सकता। हमें अपने आपको सिर्फ़ दूसरों को लुभाने, खुश करने और उनकी कामनाओं का पात्र बनने तक सीमित नहीं करना चाहिए बल्कि आवाज़ उठानी चाहिए। औरतों को निर्णय प्रक्रिया में शामिल होने,

वल्काना महिला सर्कस

फ़ोटो- एन.एफ.जी. फ़ोटोग्राफ़ी

विश्व भर में नारीवादी रचनात्मकता ने अनगिनत बदलावों को प्रेरणा दी है और अनेक समुदायों को शिक्षित और सशक्त बनाया है। नारीवादी कला आंदोलन के पचास सालों के बाद आज भी महिला रचनात्मकता सामाजिक और राजनैतिक बदलावों को प्रोत्साहित कर रही है।

ऐसी ही कोशिश ब्रिसबेन ऑस्ट्रेलिया की *वल्काना महिला सर्कस* कर रही है। वल्काना, सर्कस कला के माध्यम से औरतों को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्त करने के अवसर देकर सशक्त कर रही है।

वल्काना की शुरूआत 1995 में इस सोच के आधार पर की गई थी कि जब औरतें, केवल औरतों के बीच रहते हुए खुले और सहयोगी माहौल में हुनर सीखतीं हैं और उसका प्रदर्शन करती हैं तो उनके शारीरिक व भावनात्मक अनुभव बिल्कुल अलग होते हैं। वे खिलती हैं, निखरती हैं और आत्मविश्वासी बनती हैं।

वल्काना एक ऐसा समूह है जहां सशक्त महिलाओं की अगुवाई में युवा प्रशिक्षार्थी सर्कस की सभी विभिन्न कलाओं के ज़रिए अपने भीतर छिपी शारीरिक, मानसिक और रचनात्मक ताक़त को ढूंढ कर बाहर लाती हैं। रोज़ाना वे अपनी सीमाओं को तोड़कर कुछ आगे बढ़ती हैं।

यहां पर अनेक नई और नायाब गतिविधियों का प्रशिक्षण दिया जाता है जैसे ट्रेपीज़, लायरा, क्लाउड स्विग, हुलाहूप, फायर स्विंग, कलाबाज़ियां और एरियल डान्स। पर वल्काना केवल सीखने, प्रशिक्षण हासिल करने और कला प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं है।

यहां हर कलाकार को अपनी सोच और कल्पना के अनुसार काम करने की आज़ादी है। अपने लक्ष्य खुद चुनने की आज़ादी है। इस काम में उन्हें सभी का सहयोग और प्रोत्साहन मिलता है। सर्कस से जुड़ी सभी कलाओं को यहां आने वाली औरतें अपनी मर्ज़ी और हुनर के अनुसार इस्तेमाल कर सकती हैं। इसी सोच को आगे ले जाते हुए कई औरतों ने हैरतंगेज़ प्रदर्शन और शो तैयार किए हैं। इससे न सिर्फ़ उनकी रचनात्मकता को बढ़ावा मिलता है बल्कि उनका हुनर भी और विकसित होता है।

हाल ही में *वल्काना* के तीन कलाकारों, ग्रेस, शैनन और मायू ने एक कार्यक्रम तैयार किया है जिसका नाम है— *म्यांऊ-बिल्ली और चीज़केक*। इस शो में यह दिखाया गया है कि एक ही घर में रहने वाली तीन लड़कियां, रोज़मर्रा के घरेलू कामों जैसे खाना पकाने, तैयार होने या केक खाने को कितने अलग-अलग ढंगों से कर सकती हैं। इस पूरे शो में इन कलाकारों ने सर्कस की विभिन्न तकनीकों की मदद से हर किरदार की खासियत को दर्शकों के सामने उभारने की कोशिश की है। हास-परिहास के ज़रिये तीनों किरदारों की अनोखी और विचित्र आदतों को भी दिखाने की कोशिश की गई है।

इसी तरह के अनेक मौके *वल्काना* के प्रशिक्षणार्थियों को प्रदान किये जाते हैं। शो तैयार करने के लिए उन्हें आवश्यक सामान, उपकरण, कलात्मक सहयोग और हर संभव मदद भी समूह की तरफ से दी जाती है। इन अवसरों और सुविधाओं के चलते औरतों को कुछ नया करने का हौसला और आत्मविश्वास मिल पाता है। वल्काना के सकारात्मक प्रभाव ने अनेक औरतों के जीवन को छुआ है।

लेख का यह हिस्सा वल्काना सर्कस टीम ने लिखा है।

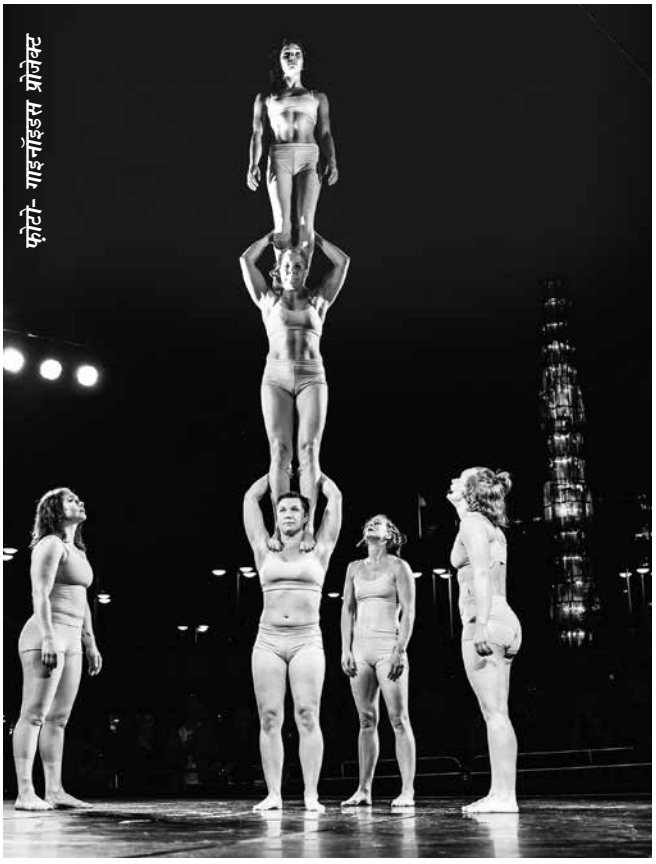
फ़ोटो- गाइनॉइड्स प्रोजेक्ट

अपनी महत्वाकांक्षा के अनुसार भूमिका तय करने की आज़ादी होनी चाहिए।

उन्हें समान अवसर मिलने चाहिए कि वे आने वाली पीढ़ी के सामने वैकल्पिक आदर्श प्रस्तुत कर सकें। इन सब बातों को देख कर मन में बहुत सी आकांक्षाओं के साथ मैंने अपनी *गाइनॉइड्स परियोजना* शुरू की।

इस परियोजना का उद्देश्य सर्कस के तौर-तरीक़ों को एक औरत के नज़रिए से समझना है। अपने जीवन में मुझे वही करने की इच्छा होती थी जिसकी इजाज़त नहीं होती थी। *राष्ट्रीय सर्कस स्कूल* में भी मुझे तनी रस्सी का करतब करना था जबकि मैं चीनी खम्भे का करतब सीखना चाहती थी। उस समय यह करतब सिर्फ़ पुरुषों के लिए होता था। दो साल इधर-उधर की चीज़ें करने के बाद मैंने चीनी खम्भे पर अपना एकल कार्यक्रम पेश किया और उस समय की स्थापित जेंडर भूमिका की बंदिश को तोड़ा।

सर्कस में औरतों की भूमिका पूर्व निश्चित होती है। वे क्या करेंगी, कैसे करेंगी, मंच पर किस तरह पेश होंगी और ही साथ सर्कस के पदानुक्रम में उनका दर्जा क्या होगा। मालिक चाहते हैं कि हम एक ख़ास ढंग से प्रदर्शन करें, दर्शक चाहते हैं कि हम एक ख़ास ढंग से दिखाई दें और हम स्वयं भी इसी दबाव में रहती हैं कि उनकी उम्मीदों को पूरा करके तालियां बटोरें, परिणाम स्वरूप हम उसी घिसी-पिटी छवि और भूमिका को दोहराती रहती हैं।

गाइनॉइड्स परियोजना का उद्देश्य सर्कस के परिवेश में औरतों की वैकल्पिक भूमिकाओं को बढ़ावा देना और नारीवादी कार्यनीतियां लागू करना है। यहां हम दो तरह से काम कर रहे हैं। एक तो शैक्षणिक शोध कार्य जिसके तहत स्त्रियों का अनुपात, उनका दर्जा और उनके अपने अनुभव आदि का अध्ययन किया जा रहा है। दूसरी ओर हम कलात्मक शोध प्रक्रिया भी विकसित कर रहे हैं। इसके अन्तर्गत विश्वस्तर के ऐसे प्रयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किए जा रहे हैं जिनमें विभिन्न देशों की चुनी हुई सर्कस कलाकार महिला शक्ति को केन्द्र में रखकर कलात्मक प्रस्तुतियां देती हैं।

जब मैंने अपने काम के बारे में सबको जानकारी दी तो अनेक प्रतिक्रियाएं आईं। सर्कस समुदाय के सभी सदस्यों ने बड़े जोश से इसका स्वागत किया। अनेक कलाकारों ने इससे जुड़ने के लिए मुझसे सम्पर्क किया। शोध प्रक्रिया के अन्तर्गत हमने प्रश्नावलियां बांटी और पहले साठ घंटों में ही सौ लोगों के जबाब आ गए। ये सभी जवाब इस बात के पक्ष में थे कि सर्कस में औरतों के मुद्दे पर गंभीर कार्य की ज़रूरत है।

अतः 2013 में मैंने सर्कस में एक महिला संगठन की शुरुआत की जहां वे आपस में मिल कर उनके श्रम से जुड़े मुद्दों पर बातचीत कर सकें और खुद अपने हालात की कमान संभाल सकें।

मेरा मानना है कि सर्कस में औरतों की जो छवि पेश की जाती है उसके लिए हम ख़ुद ज़िम्मेदार हैं और उसे सुधारने की दिशा में पहला क़दम है, जागरूकता। हमें साथ में जुड़ कर, चर्चा करके काम करना चाहिए सर्कस एक ऐसा बेहतरीन माध्यम है, यह दिखाने का कि कुछ भी संभव है। चलिए अब हम औरतों के प्रतिनिधित्व और आज़ादी के उपकरण की तरह इसे इस्तेमाल करें।

मारी-ऐन्द्री रॉबितैल *गाइनॉइड्स परियोजना की कला निदेशक हैं। वे 'सर्कस' का पाठ्यक्रम भी पढ़ाती हैं।*

मूल अंग्रेज़ी से अनुवाद- वीणा शिवपुरी

लेख

देहली को बनाने वाली औरतें

रख़्शंदा जलील

एक देहली वह है जो हमें दिखाई देती है अपनी पूरी चमक और आबो-ताब के साथ और एक देहली ऐसी है जो होते हुए भी हमें दिखाई नहीं देती। वह है गुज़रे दौर की देहली जिसे मैं अदृश्य देहली कहती हूं।

हमें दिखाई देने वाली देहली की भीड़ भरी सड़कों की आपा-धापी, ऊंची-ऊंची इमारतों की चकाचौंध के आस-पास ही अंधेरे में डूबे, ख़ामोश खंडहरात, मसजिदें, मक़बरे और कितनी ही ऐसी नायाब इमारतें हैं जिनके पास से गुज़रते हुए भी हम उन पर एक नज़र नहीं डालते और न कभी उनकी सार-संभाल करते हैं। हां, अगर कुछ करते हैं तो वह है उनकी तबाही।

इसी अदृश्य देहली को बनाने में कितनी ही औरतों का हाथ रहा है। आज हम उसी को जानने की कोशिश करेंगे।

यह सही है कि ज़्यादातर नामचीन ऐतिहासिक इमारतों के साथ मर्दों का नाम जुड़ा है। वज़ीरों, बादशाहों का नाम जुड़ा है लेकिन देहली की खूबसूरती में इज़ाफ़ा करने में औरतों ने भी छोटा सही लेकिन अहम किरदार निभाया है। उनके बनवाए मकबरे, मसजिदें, सरायखाने आज भी इसकी गवाही देते हैं।

सबसे पहले मैं हौज़ ख़ास की *नीली मसजिद* की बात करूंगी, जिसे सन् 1505-6 में कसुम भील ने बनवाया था जो उस इलाके के आला ओहदेदार ख़वास ख़ान के बेटे की दाई थीं। इस छोटी पर बहुत खूबसूरत इमारत में तीन कक्ष हैं और बीच में छोटा सा गुम्बद। गुम्बद के चारों ओर चमकीले नीले रंग की चीनी मिट्टी की खपरैलें लगी हैं जिन्होंने इस मसजिद को नाम दिया। देख-रेख की कमी के चलते अब बमुश्किल दर्जन भर खपरैलें बची हैं लेकिन वे यह साबित करती हैं कि किसी दौर में इसकी सुन्दरता क्या रही होगी।

औरतों के हुक्म पर या उनकी निगहबानी में इमारतें बनने के सिलसिले को मुग़ल काल में प्रोत्साहन मिला। इस दौर की मुख्य इमारतों में अहमद शाह की मां कुदसिया बेगम की जोरबाग़ के पास बनवाई हुई *दरगाह शाहे मरदान* और उसके आस-पास की इमारतें हैं। आज भी यह इलाका शिया सम्प्रदाय के लिए पवित्र स्थान है। इस्तेमाल में आने की वजह से इनकी देख-रेख और हालत ठीक है। आई.एस.बी.टी. के पास बना *कुदसिया बाग* भी उन्हीं का बनवाया हुआ है।

देहली की कुछ और मशहूर इमारतों में से ख़ास है *रोशनआरा बाग* जिसे शहज़ादी रोशनआरा ने बनवाया था। हुमांयू के मकबरे के पास *नूं हलीमा का बाग* और फ़क-ए-जहां बेगम की याद में बनवाई गई *फक्रुल मसजिद* भी अहम है।

कई मुग़ल शहज़ादियों ने छोटी-छोटी लेकिन बेइन्तिहा खूबसूरत मसजिदें बनवाईं जैसे गुम्बद पर काली और सफेद

हुमांयू का मक़बरा, नई दिल्ली

फ़तेहपुरी मस्जिद, दिल्ली

धारियों वाली *ज़ैनातुल या धारा मसजिद*। इसे औरंगज़ेब की एक बेटी ज़ीनत-उन-निसा ने बनवाया था। चांदनी चौक के एक छोर पर बनी *फतहपुरी मसजिद* को बनवाने वाली भी शाहजहां की एक बेगम थीं।

यहां मथुरा रोड बनी *ख़ैरुल मसजिद* और मदरसे का ज़िक्र करना बहुत ज़रूरी है। 1561-62 में अकबर की दाई मां और शाही दरबार में ताक़त रखने वाली माहम अनगा ने इन इमारतों को बनवाया था। दरअसल में यह मसजिद देहली का एक छिपा हुआ नायाब हीरा है। हालांकि इसके चारों ओर की दीवार टूट-फूट रही है लेकिन लाल पत्थर से बने मेहराबदार अज़ीम दरवाज़ों पर पुरानी कारीगरी की झलक आज भी दिखाई देती है। चूंकि कुछ नमाज़ी आज भी यहां आते हैं इसलिए थोड़ी देखभाल और साफ़ सफाई हो जाती है। इससे जुड़े मदरसे की हालत खराब है।

माहम अनगा का बनवाया मेहरोली में अपने बेटे *आदम ख़ान का मकबरा* लोधी वास्तुकला का एक नमूना है जिसमें चारों तरफ बरामदे हैं। माहम अनगा की कब्र भी इसी इमारत के एक हिस्से में है। मेहरोली की अन्य पुरानी यादगारों की तरह यह मक़बरा भी लोगों की असभ्यता और बर्बरता का शिकार है। आज इसे लोग *भूल भुलैया* के नाम से जानते हैं।

देहली का एक बहुत खूबसूरत और नामचीन *मक़बरा हुमांयू* का है जिसे उनकी बेवा बेगम और अकबर की मां हमीदा बानू बेगम उर्फ़ मरियम मक्कानी ने बनवाया था। यह मुग़ल वास्तुकला की एक आलीशान मिसाल है। बगीचे के बीच बने मक़बरे ने आगे चलकर ताजमहल की कल्पना की नींव रखी। कहा जाता है कि अपने समय में इस मकबरे की तामीर में 15 लाख रुपये ख़र्च हुए थे। इसको बनाने के लिए फ़ारस के वास्तुकार गयास को बुलवाया गया था जिसने भारत में पहली बार फ़ारसी गुम्बद का इस्तेमाल किया। 1603 में हमीदा बानू बेगम के इंतकाल पर उन्हें भी यही दफ़नाया गया।

हुमांयू के मक़बरे के दक्षिण-पश्चिम कोने पर तीन बड़े मेहराबदार दरवाज़ों वाली दीवार बंद इमारत है जो पुराने जमाने से *अरब की सराय* के नाम से जानी जाती है। इसी इलाके की एक और ख़ास चीज़ है *बू हलीमा का बाग*। यह मालूम नहीं होता कि यह मोहतरमा कौन थीं लेकिन उनकी टूटी-फूटी क़ब्र इसी बाग में मौजूद है।

देहली को बनाने में जिस एक और शख़्सियत का बड़ा हाथ रहा है वो है शहज़ादी जहांआरा। आला दर्जे की शायरा, चित्रकार, लेखिका होने के साथ-साथ शाहजहां की इस बेटी ने शाहजहांनाबाद में बहुत सी खूबसूरत इमारतें बनवाई। सन् 1600 में इस शहजादी ने *चांदनी चौक* का नमूना सोचा और उस पर काम करवाया। 40 गज़ चौड़ी और 1520 गज़ लम्बी सड़क पेड़ों की छांव में बहती नहरों के साथ दुकानों और बाज़ार की कल्पना जहांआरा की थी। 1650 में वही एक बहुत बड़ा हमाम भी बनवाया। उसी साल एक दो मंज़िला सराय तामीर करवाई। शाही औरतों के लिए बगीचा बनवाया जो *बेगमबाग़* और बाद में *कम्पनी बाग़* कहलाया। मोइनुद्दीन चिश्ती की मुरीद जहांआरा ने अजमेर में उनकी दरगाह में संगमरमर का दालान बनवाया जो आज भी *बेगमी दालान* कहलाता है।

खुद शहज़ादी, देहली में निज़ामुद्दीन ऑलिया की दरगाह में खुले आसमान को ताकती एक सादी सी कब्र में सो रही हैं। उनकी ख्वाहिश के मुताबिक कब्र पर सिर्फ़ घास लगी है जहां आज भी गुलाब की पंखुड़ियां बिखेर दी जाती हैं।

गुलाब की ये पंखुड़ियां दिल्ली में मेरे भरोसे को ज़िंदा रखती हैं। जब तक यहां सादगी और अच्छाई को इज़्ज़त दी जाएगी हम सबके लिए उम्मीद बाकी है।

रख्शंदा जलील, *लेखक और शोधकर्ता हैं।*
वे हिन्दुस्तानी आवाज़ नाम की संस्था से भी जुड़ी हैं।
अंग्रेज़ी से अनुवाद- वीणा शिवपुरी

लेख

मुगल शहज़ादी-जहांआरा और ज़ेब-उन-निसा

रज़ा रूमी

शहज़ादी जहांआरा

दिल्ली का इतिहास अधिकतर पुरुषों द्वारा चलाई जाने वाली सल्तनतों और मुगल शासकों की सत्ता और सरपरस्ती से रचा-बुना है। इसमें औरतों की अदृश्यतता व्याप्त है, सिवाय एक-दो नामों के जैसे रज़िया सुल्तान और नूरजहां। इस पितृसत्तात्मक समाज में औरतें यदा-कदा ही सत्ता और राजनीति के उच्च पदों पर आसीन हुई हैं। जहां तक नूरजहां का सवाल है वे फ़ारसी थीं और स्थानीय भारतीय मुगल शासन में उनकी सत्ता परिवार के पुरुष रिश्तेदारों के माध्यम से हासिल की गई थी। जैसे-जैसे जहांगीर शराब और नशे की लत के चलते सत्ताहीन होते गये वैसे-वैसे नूरजहां ने शासन की बागडोर थाम ली।

लगभग आधी सदी तक गुमनाम रहने के बाद मुगल दरबार में शहज़ादी जहांआरा सत्ता के केंद्र में नज़र आई। जहांआरा अपने वालिद शाहजहां की मुख्य हमराज़ बनीं। बेगम मुमताज़ महल के देहान्त के बाद जहांआरा को शाही घराने में एक अहम भूमिका अदा करने का मौका मिला। दिलचस्प बात यह है कि शाहजहां की सबसे पहली सन्तान जहांआरा की सार्वजनिक भूमिका उनके आध्यात्मिक और सूफ़ी झुकाव के कारण थी। अपने भाई दारा शिकोह की तरह जहांआरा भी कादरी सूफ़ी, मिंया मीर से प्रेरित रहीं। वे चिश्ती संत निज़ामुद्दीन औलिया और ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की भी बड़ी मुरीद थीं। कहा जाता है कि शहज़ादी जहांआरा एक बार भीषण आग की चपेट में आ गई थीं। ठीक होने पर वे अजमेर शरीफ़ गई और ख्वाजा का दरगाह पर ज़ियारत करके उन्हें अपना जीवन बचाने के लिए शुक्रिया अदा किया। इसी दौरान एक शाम रवानगी के दौर में उन्होंने मज़ार के चारों और संगमरमर का दालान बनाने का आदेश दिया जिसे आज *बेगमी दालान* के नाम से जाना जाता है। इंतकाल के बाद शहज़ादी का मकबरा भी निज़ामुद्दीन चिश्ती की मज़ार के करीब बनाया गया।

संत्रहवी सदी की एक व्यक्तिगत और प्रखर आवाज़ है जहांआरा लिखित *रिसाला-ए-साहिबिया* जिसमें उनके आध्यात्मिक सफ़र, नज्में और राजनैतिक विरासत का लेखा जोखा है। अपने दौर में जहांआरा ने कला और साहित्य को भी बहुत बढ़ावा दिया। शाहजहां के शासन काल में शहज़ादी जहांआरा ने सूफ़ी आध्यात्मक को अपने आध्यात्मिक रूझान के साथ जोड़कर खुद को एक सार्वजनिक वैधता प्रदान की। सूफ़ी रिवाजों के चलते पर्दे की परम्परा में भी ढिलाई देखी जा सकती थी जहां एक कुंवारी मुगल शहज़ादी की पहचान सूफ़ी संस्कृतिक और धार्मिक विरासत को आगे ले जाने में स्वीकार की गई थी।

शहज़ादी जहांआरा अपने वालिद के प्रति वफ़ादार रही और मरने से पहले उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति ख्वाजा मोइनुद्दीन की दरगाह के नाम लिख दी थी। औरंगज़ेब ने इस विरासत के एक-तिहाई हिस्सा ही दरगाह को दान में दिया।

उनका मकबरा उनके शान्त और शालीन व्यक्तित्व का पुख्ता सबूत है। मकबरे के ऊपर कोई छत नहीं है- कहा जाता है कि वे चाहती थीं कि उनका शरीर खुले आकाश के नीचे दफ़न किया जाये। मकबरे पर दर्ज इबारत कहती है—

मेरी कब्र को सब्ज़ घास के बीच दफ़न होने दो
यही तो है मज़लूमों के हौसलों का सबूत।

★ ★ ★

शहंशाह औरंगज़ेब की बेटी ज़ेब-उन-निसा एक कला प्रेमी, शायरा और रचनात्मक तबियत वाली महिला थीं। अपने वालिद की सबसे बड़ी बेटी होने के नाते उनका रुतबा सबसे अलहदा था। माता दिलरास बानो 'सफ़ाविद' फ़ारसी शहज़ादी

ज़ेब-उन-निसा की कब्र

थीं और औरंगज़ेब ने बड़े स्नेह के साथ उनका नाम ज़ेब-उन-निसा जिसका अर्थ है- औरतों का ज़ेवर' रखा था।

अपने वालिद की प्रिय होने के कारण शुरूआत से ही मुगल दरबार से शहज़ादी का परिचय हो चुका था। इसके अलावा उन्हें कला, भाषा, विज्ञान और खगोल विज्ञान की शिक्षा भी हासिल थी जिसने उसे एक संवेदनशील व जागरूक व्यक्तित्व प्रदान कर दिया था। ज़ेब-उन-निसा ने आजीवन विवाह नहीं किया और खुद को शायरी और सूफ़ी आध्यात्म में रमाए रखा।

विडम्बना यही थी— औरंगज़ेब की यह बेटी अपने पिता से बिल्कुल अलग थी। उनका स्वभाव और सोच दोनों ही अपने पिता से विपरीत और अपरम्परागत थी। एक उम्दा शायरा होने के नाते वे नज़्में और कविताएं लिखा करती थीं पर चूंकि यही बात औरंगज़ेब को पसंद नहीं थी इसलिए उन्होंने अपनी शायरी एक 'पेन-नेम' मक्फ़ी- यानी 'अदृश्य' या जो नज़र न आए के नाम के तहत लिखी।

ज़ेब-उन-निसा ने एक बागी स्वभाव पाया था— वे सांस्कृतिक और साहित्यक महफ़िलों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती थीं हालांकि समय के रिवाज के अनुसार वे पर्दे की प्रथा का पालन अवश्य करती थीं।

अपने फिरकापरस्त वालिद के धर्म और समाज से जुड़ी पारम्परिक सोच को वे अपनी कलम के माध्यम से लगातार चुनौती देती थीं। उनकी शायरी और लेखों में मुहब्बत, आज़ादी और उन्मुक्तता का ज़ज़्बा साफ झलकता था। अपनी एक नज़्म में वे लिखती हैं—

मैं फारसी मुहब्बत की लैला तो हूं
पर मेरा दिल मजनू की तरह उन्मुक्त प्यार करता है
मैं सेहरा में भटकना चाहती हूं
पर शर्म की बेड़ियां पांवो में पड़ी हैं।
मुझे मुहब्बत की बातों में नफ़ासत हासिल है
तभी तो पतंगा भी मेरा शार्गिद बना है।

ज़ेब-उन-लिखा ने 400 गज़लें लिखीं जिसमें उन्होंने कट्टरवादी समाज और राज्य के ख़िलाफ़ अपने जज़बात व्यक्त किये।

कहा जाता है कि ज़ेब-उन-निसा के अनेक प्रेमी थे पर इन बातों के पुख्ता सबूत नहीं मिलते। ईरानी शायर अशरफ़ के साथ उनकी नज़दीकी के कुछ किस्से ज़रूर मिलते हैं पर दावे के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। यह भी बताया जाता है कि वे अपनी एक कनीज़, मिंया बाई से बहुत अधिक प्यार करती थीं और उसी को उन्होंने लाहौर का *चौबुर्ज़ी बाग* तोहफ़े में दिया था।

प्रचलित कहानियों में से एक किस्सा जो इस मुगल शहज़ादी की दरियादिली और कोमल व्यक्तित्व पर रोशनी डालता है के अनुसार ज़ेब-उन-निसा काफ़ी खूबसूरत थीं और पिता औरंगज़ेब ने एक बहुत नायाब शीशा उन्हें तोहफ़े में दिया था। शहज़ादी रोज़ इस आइने में अपनी सूरत निहारती थी। एक दिन गलती से किसी कनीज़ से यह आईना टूट गया। पर ज़ेब-उन-निसा इस पर नाराज़ नहीं हुई। उन्होंने बांदी को समझाते हुए कहा कि वे खुश है कि "चापलूसी का यह साधन" अब उनके पास नहीं है और वे अब अपनी खूबसूरती से अलग होकर खुदा की ज़ियारत पूरे दिल से कर सकती हैं।

ज़ेब-उन-निसा के आध्यात्मिक झुकाव से बेशक औंरगज़ेब खुश नहीं था परन्तु शहज़ादी ने खुद को अपने पिता के राजनैतिक फ़ैसलों और शासन से पूरी तरह अलग रखा। 1681 में औरंगज़ेब के विद्रोही बेटे अकबर के साथ लगातार सम्पर्क में रहने और पत्राचार करने के आरोप में उन्हें दिल्ली के किले में कैद रखा गया जहां वे अपनी मौत तक रहीं।

जादूनाथ सरकार बताते हैं कि ज़ेब-उन-निसा को काबुली गेट के बाहर, तीस हज़ारी बाग में दफ़नाया गया था। पर कुछ समय बाद ताबूत को आगरा के सिकंदरा मकबरे के पास दोबारा दफ़नाया गया। उनकी कब्र पर लिखी इबारत इस कलाविद् और अदृश्य शहज़ादी के जीवन पर कुछ और रोशनी डालती है—

"खूबसूरती, गरिमा, शिक्षा और कला का ये झरना क्यों कहीं खो गया— जब सबने पूछा तो आवाज़ आई— अरे चांद भी तो कहीं छुप गया है।"

रज़ा रूमी, *पाकिस्तानी पत्रकार व लेखक हैं।*

पांडवानी
इतिहास की कसौटी पर वर्तमान को तोलती कला

सुनीता ठाकुर

छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक धरोहर और कला का अनुपम उदाहरण है पांडवानी। पांडवानी शब्द का शाब्दिक अर्थ अगर देखें तो यह पांड और वाणी दो शब्दों से बना है। पांडित्य पूर्ण जो वाणी है वह पांडवानी है। यानी पांडवानी एक पौराणिक कथा के माध्यम से जीवन के मर्म और तथ्यों का मूल्यांकन करने वाली आवाज़ है।

पांडवानी का महत्व महाभारत जैसे वृहद काव्य के जीवन सत्यों को अपने समसामयिक संदर्भों के साथ प्रस्तुत करने से और भी बढ़ जाती है।

तीजनबाई के बाद रीतू वर्मा पांडवानी की दुनिया में एक और जाना माना नाम है जिसने इस काव्य को जन जन तक नए जोश और नए अर्थों में पहुंचाने और उनके अन्तर्मन में इस काव्य के मर्म को समोने में अपनी नाट्य कला और संगीत कौशल का अद्‌भुत प्रयोग किया है।

तीजन की ही भांति रीतू भी स्टेज पर महाभारत के विभिन्न पात्रों की प्रस्तुति में नए संदर्भों को जोड़ने और व्याख्यायित करने का प्रयास करती हैं। आठ साल की उम्र से उन्होंने तीजन जैसे विभिन्न कलाकारों को पांडवानी प्रस्तुत करते सुना और देखा तो उनके मन में अनजाने ही यह हुनर जोश मारने लगा। वे खेल खेल में उसे कला का नाट्यन करने लगीं। उनके परिवारजनों ने उनकी इस भावना को पहचाना और इस तरह से इस लोककला को एक और पांडवानी कलाकार मिल गया। रीतू वर्मा को उनकी पांडवानी प्रस्तुतियों के लिए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर खासी पहचान और सम्मान मिला है।

यह समझने की बात है कि पांडवानी को इन स्त्री कलाकारों द्वारा क्यों अपनाया गया, और यह कला प्रस्तुतियां, वह भी छत्तीसगढ़ के अपने देहाती इलाकों और समाज में, करना उनके लिए बहुत आसान काम नहीं रहा। क्योंकि समाज स्त्री को जिस घूंघट और बंधन में बांधे रखना चाहता है वहां स्त्री द्वारा मंच पर महाभारत जैसे काव्यों की व्याख्या करना किसी के लिए भी सहज स्वीकार्य नहीं था। मगर तीजन और रीतू वर्मा ने इस काव्य की महिलाओं की अस्मिता, जीवन के आदर्शों और मानवीय संदर्भों के साथ जोड़कर नई व्याख्या की है। स्त्री का सम्मान, जातिवाद, संबंधों की व्याख्या, सद्‌कर्म और कर्मभावना, अच्छा शासक और शासन की व्याख्या, शिक्षा और शिक्षा व्यवस्था ऐसे कई संदर्भ हैं जो महाभारत को एक सांस्कृतिक धरोहर से ज़्यादा जीवन काव्य बनाते हैं, इसलिए महाभारत का नाट्य मंचन लगातार विभिन्न स्तरों पर होता रहा है। उसमें आदर्श से ज़्यादा व्यवहार है, धर्म से ज़्यादा कर्म है।

पांडवानी का मंचन

देहरी से बाहर, पल्लू से फैंटा बांधे, हाथ में तंबूरा थाम स्टेज पर उतर इन महिलाओं ने समाज की आंखों में झांक उन्हें वर्तमान सत्य का अहसास कराया है। पहले पहल तो कथा सुनाने वालों के साथ-साथ सुनने वालों पर भी पाबंदियां लगीं। सास, ससुर, पति भड़क उठे। नाक कटने के ताने, समाज में बेइज़्ज़ती के उलाहने, लोगों की फब्तियां, मज़ाक, सरेआम पति द्वारा बेइज़्ज़ती, बदनामी क्या क्या नहीं हुआ। मगर धीरे-धीरे माहौल बदला है। अब यह कला छत्तीसगढ़ की सीमाओं से बाहर देश की पहचान बनी है और अब महिलाएं भी इस कला में बराबरी से संगत और सहयोग देने लगी हैं। वे इसे देखती सुनती हैं, गुनती हैं और अतीत की ज़मीन पर वर्तमान के सच की व्याख्या करने लगी हैं। नतीजा जीवन में बदलाव आ रहा है, धर्म की जगह कर्म ले रहा है। वे अब गलत को गलत कहने और बदलने लगी हैं। इस तरह पांडवानी प्रस्तुति को इन महिलाओं ने जीवन और सोच में बदलाव का माध्यम बनाया है, जिसमें पांडवानी का स्थानीय भाषा में नाट्य मंचन और संगीतमय मंचन बेहद प्रभावी भूमिका निभाता है।

रीतू शर्मा अभिनय मुद्रा में

पांडवों की एक-एक कथा गाती ये महिलाएं, जैसे सागर की अनगिनत लहरें टकराती हों। स्त्री का जोश पछाड़ें मारता है और सुनने वाले देखते रह जाते हैं। वे बिजली की तरह स्टेज पर कौंधती, कभी शेर की तरह दहाड़ती हुई, कभी मां की तरह दुलारती हुई, कभी पत्नी की तरह प्रेम में डूबी, कभी राजनीतिज्ञ की तरह कुटिल चाल, व्यंग्य, हाव भाव में पूरे जीवन संदर्भो को तोलती हैं। शरीर का अंग अंग फड़क उठता हैं, पोर पोर थिरकने लगता है। उनका तंबूरा कभी अर्जुन की प्रत्यंचा बन जाता है, तो कभी भीम की गदा सा तन उठता है। पांडव कथा का गान करतीं ये कलाकार अपनी सुध-बुध बिसरा बैठती हैं। उनके चारों ओर एक मोहित करने वाली आभा फैली होती है, और यह तभी होता है जब पात्रों के साथ उनका एकाकार हो जाता है, विवेक उनकी नए संदर्भो के साथ व्याख्या कर रहा होता है।

इन कलाकारों ने परंपराओं की जड़ता नकारकर, जड़ होती एक पारंपरिक लोककला 'पांडवानी' को नया जीवन, नई पहचान दी है। तुलसीदास की तरह इन्होंने महाभारत की शास्त्र कथा को जनता तक पहुंचाया है और मीरा की भांति प्रेम, भक्ति गीतों को नया अर्थ दिया है। इनके लिए पांडव कथा महज एक लोकनाट्यकला नहीं थी, उनके लिए यह एक अभियान था। एक ऐसा अभियान जिसके द्वारा वे परिवार और रिश्तों को नए संदर्भ और नए मूल्य देने की कोशिश कर रही हैं। उनके अंदाज़, उनकी भाव भंगिमाएं, उनकी भाषा और शैली जैसे हर रूप में एक स्त्री की आज़ाद ख़याली और उन्मुक्त अभिव्यक्ति का गान गाती हैं। उनके शब्दों में स्त्री के अधिकारों और पहचान के नए अर्थ जुड़े होते हैं- प्रसंग महाभारत के और संदर्भ जीवन के, जीवन से जोड़ते हुए।

लोककलाएं हमारी सांस्कृतिक धरोहर है, इन्हें हमें अपनी भावी पीढ़ियों के लिए संभालकर रखना चाहिए। जो करो दिल से करो और अपने आसपास सबके साथ सहयोग करो, तुम जीत हासिल ज़रूर करोगे।

पांडवानी की पहली महिला कलाकार तीजनबाई

हम में से न जाने कितनी तीजन और रीतू आज भी समाज और परिवार के दायरों में अपनी प्रतिभा और प्रत्यंचा लिए बैठी हैं। गांव से संसार तक उनकी कल्पनाएं भी उड़ान भर सकती हैं-देर सिर्फ़ रीतू और तीजन जैसे उत्साह और फ़ैसले की है। आज हम जब भी इन कलाकारों का नाम लेते हैं तो महिलाओं की हिम्मत और कुछ कर गुज़रने की जिजीविषा को भी सलाम करने का मन होता है।

इन कलाकारों का व्यक्तित्व हमें सिखाता है कि प्रतिभा को सिर्फ़ एक मौके की तलाश होती है। किसी भी तरह के साधन मौजूद न होने पर भी, कोई सहयोगात्मक माहौल न होने पर भी सिर्फ़ अपनी हिम्मत और निर्णय के साथ हम आगे कदम बढ़ा सकते हैं और बहुत कुछ कर दिखा सकते हैं।

हम अतीत से सीखें, और एक नई दुनिया गढ़ें।

सुनीता ठाकुर *जागोरी की सक्रिय कार्यकर्ता हैं। वे महिला मुद्दों पर लम्बे अर्से से लिखती रही हैं।*

ध्रुपद गायिका असगरी बाई

फ़िल्म समीक्षा

फ़िल्म का नाम : असगरी बाई-सन्नाटे का सुर-पंचम
भाषा : हिन्दी
अवधि : 46 मिनट
निर्देशन : प्रीति चन्द्रियानी/ब्रह्मानन्द सिंह

असगरी बाई- सन्नाटे का सुर-पंचम

सीमा श्रीवास्तव

यह फ़िल्म 86 वर्षीय एक मात्र ध्रुपद गायिका असगरी बाई के जीवन पर केन्द्रित है। फ़िल्म का विवरण 2006 में असरगी बाई की मृत्यु के पहले उनसे की गई बातचीत पर आधारित है। उनका दबंग व्यक्तित्व और खुद पर ही हंसी ठिठोली करने की फितरत इस महान गायिका की गरिमा को और बढ़ा देती है। असगरी बाई को संगीत का गहरा इल्म था, वे कहती हैं, *'सुर में ईश्वर है। यदि सुर नहीं मिला तो ईश्वर क्या मिलेगा? आजकल के बेशर्म गवैये उन्हें सुर का ज्ञान नहीं, उनके गीतों में रूह नहीं सिर्फ़ बोल हैं, उनका संगीत अधूरा है।'* असगरी बाई बताती हैं कि उन्होंने अपने इल्म को देश दुनिया में पंहुचाया है। यूरोप, जापान तक उनके ध्रुपद की धूम रही है।

असगरी बाई की मां नज़ीर बेगम गायिका थीं और उस्ताद ज़हुर ख़ान की शार्गिद थीं। उस्ताद ने ही असगरी बाई को 15 साल संगीत का ज्ञान दिया और ध्रुपद गायन सिखाई। असगरी बाई उस्ताद से अपनी तालीम पाने की कहानी बड़ी मसख़री के साथ बताती हैं। कहती हैं कि उस्ताद इतने अनुशासनप्रिय थे कि ज़रा सी लापरवाही की गंभीर सज़ा देते थे। उनकी उस्तादी के ज़लज़ले ने एक बार तो सज़ा के रूप में 12 साल की उम्र में असगरी बाई के बाल ही मुंडवा दिए। वे कहती हैं कि आज जो भी नाम है वह उस्ताद की ही देन की वजह से है। उनके अनुसार 'गुरू का जो शासन नहीं होता तो संगीत में इतनी दक्षता भी नहीं आती। उस्ताद ज़हुर खान के लिए गायकी ईश्वर की साधना से कम नहीं थी।'

असगरी बाई टीकमगढ़, मध्यप्रदेश के राज बीर सिंह जुदेव के ओरछा दरबार में गाती थीं। वे कहती हैं कि टीकमगढ़ संगीतगढ़ था, वहां 450 गवैये थे। राजा वीर सिंह जुदेव अपने कलाकारों का बेहद ध्यान रखते थे। उनके यहां कला और कलाकार दोनों की परख थी, इज्ज़त थी। अब वो बात नहीं रही, ज़माना गुज़रा तो मंज़र भी बदल गए। वे चाहते थे कि उनके कलाकारों को अपने रोज़मर्रा के जीवन में कोई तकलीफ़ न हो वरना गाने में फ़र्क़ पड़ेगा। दरबार के पुराने दिनों-त्योहारों को याद करते हुए असगरी बाई कहती हैं, 'राजा के जमाने में बड़ी धूमधाम से बंसत और होली मनाई जाती थी। उनकी राजसी शान निराली थी, एक भगवान के घर होली होती थी एक राजा जुदेव के यहां। अब तो बस किले रह गये, दीवारें रह गईं और पुरानी यादें हैं।'

देश-ज़हान में अपनी कला का जादू चलाने वाली कलाकार की ज़िन्दगी में एक ऐसा भी दौर आया जब तंगी और गरीबी ने गुज़ारा भी दुश्वार कर दिया। तब एक ऐसा मोड़ आया जब असगरी बाई ने सरकार से फ़रियाद की कि उन्हें मिलने वाले देसी विदेशी सभी ईनामों को सरकार

वापस ले ले क्योंकि इससे उनकी बुनियादी ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं। जब यह बात मीडिया के ज़रिए सरोद वादक उस्ताद अमज़द अली खान तक पंहुची तब उन्होंने उस्ताद हफ़ीज़ अली खान मेमोरियल ट्रस्ट कार्यक्रम में असगरी बाई को आमंत्रित कर एक लाख रुपये का पुरस्कार देने का निर्णय लिया। इस मसले पर जब उस्ताद अमज़द अली खान से बातचीत की गई तो उन्होंने कहा कि हर राज्य में कला संस्कृति विभाग है जिन्हें अपने क्षेत्र के कलाकारों के सम्मान की रक्षा करनी चाहिए।

जब प्रदेश के प्रशासन के बात की गई तो टीकमगढ़ के कलेक्टर डी एन रामोले ने बताया कि प्रदेश सरकार से असगरी बाई को 1500 रुपये और केन्द्र सरकार से 1500 रुपए दिए जाते हैं। उन्हें पद्मश्री की उपाधि मिली और शासकीय आवास और संगीत स्कूल चलाने की जगह भी प्रदान कराई गई है। मगर वास्तविकता में यह शासकीय आवास टीन की खोली जैसा है।

आज असगरी बाई हमारे बीच नहीं हैं। मगर यह फ़िल्म न केवल उनकी ज़िंदगी का खूबसूरत और अनमोल दस्तावेज़ है वरन् उनके प्रति श्रद्धाजंलि है। ज़िन्दादिल, हिम्मतवाली, किसी के आगे न दबने वाली असगरी बाई की ज़िन्दगी दो संस्कृतियों का भी बेजोड़ मेल प्रस्तुत करती है। मुस्लिम घराने की परवरिश के साथ साथ जब वे ईश्वर, पारम्परिक त्योहारों और साधना की बातें करती हैं तो पुराने समय में संस्कृतियों की साझी विरासत का सुन्दर दृश्य मन में कौंध जाता है।

सीमा श्रीवास्तव, *नारीवादी कार्यकर्ता हैं, जो महिला मुद्दों पर लिखती हैं। वे 'हम सबला' के सम्पादन समूह की सदस्य हैं।*

कविता

प्रेम के लिए फांसी

मीराबाई तुम तो फिर भी खुशकिस्मत थीं,
तुम्हें ज़हर का प्याला जिसने भी भेजा,
वह भाई तुम्हारा नहीं था,

काश्का जी ज़हर से बचा भी लें,
कहर से बचायेंगे कैसे!

दिल टूटने की दवा
मियां लुकमान अली के पास भी तो नहीं होती!

भाई ने जो भेजा होता
प्याला ज़हर का,
तुम भी मीराबाई डंके की चोट पर
हंसकर कैसे ज़ाहिर करतीं कि
साथ तुम्हारे हुआ क्या!

"राणा जी ने भेजा विष का प्याला"
कह पाना फिर भी आसान था।

अनामिका

पुस्तक परिचय

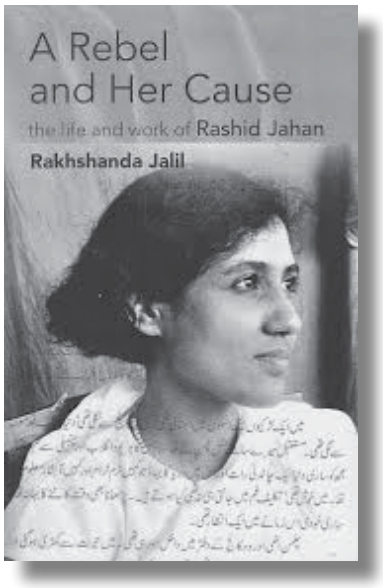

पुस्तक : अ रेबल एंड हर कॉज़- द लाइफ़ एंड वर्क्स ऑफ़ रशीद जहां

लेखक : रख्शंदा जलील

भाषा : अंग्रेज़ी

प्रकाशन : विमेन अनलिमिटेड, नई दिल्ली

रशीदा जहां, डाक्टर और लेखिका को अनेक कारणों से जाना जाता है। 1932 की सर्दियों में चार दोस्तों, जिनमें एक औरत भी थी ने एक कहानी संग्रह 'अंगारे' निकाला। उर्दू ज़बान में लिखी इस किताब की कहानियों में मौजूदा सामाजिक असमानताओं, धार्मिक कट्टरवाद और पितृसत्तात्मक समाज में औरतों के शोषण के प्रति आक्रोश व्याप्त था। इस किताब को अखिल भारतीय शिया सम्मेलन की समिति मीटिंग में 'अश्लील दस्तावेज़' का नाम देकर, समूचे मुसलमान समुदाय की भावनाओं को ठेस पहुंचाने के आधार पर प्रतिबंध लगा दिया गया। मौलवियों ने फतवे जारी कर दिए और समाज में उथल-पुथल मच गई। पुस्तक लिखने वाले साथियों में से इकलौती महिला, रशीद जहां पर ख़ास लानत भेजी गई। उसके पिता द्वारा चलाए जा रहे लड़कियों के स्कूल को रंडीखाना करार दे दिया गया।

विडम्बना तो यह है कि इस किताब को निकालने के पीछे का मकसद बेहद सीधा-साधा था। रशीद जहां पर लिखी गई किताब में लेखिका, रख्शंदा जलील का कहना है कि 'अंगारे' के पीछे का मक़सद सिर्फ़ कुछ अलहदा तरह के लेखन को बढ़ावा देना ही था। इरादा किसी को नाराज़ करने या सनसनी फैलाने का नहीं था। रशीद जहां और उनके साथियों की मंशा लोगों को रोज़मर्रा के जीवन में आए बनावटीपन और यौनिक दमक को कुरेदना था। उनका कोई समाज सुधार या आंदोलन करने का इरादा नहीं था।'

रशीद जहां द्वारा लिखी गई कुछ अन्य कहानियां और लेख में कोई ख़ास नफ़ासत या साहित्यिक उत्कृष्टता दिखाई नहीं देती। वह तो केवल हालातों का बयान करना चाहती थीं जिससे स्त्री और पुरुष खुद बदलाव लाने के लिए तत्पर हो सकें।

रशीद जहां अपने समय से कुछ आगे चलने वाली महिला थी। इस समय के 'बोल्ड' समझने वाले विषयों पर लिखने के अलावा वे एक प्रगतिशील और गहन चेतना रखती थीं। अपनी किताब में जलील हमारा परिचय घटनाओं और कहानियों के माध्यम से एक ऐसी शख़्सियत से कराती हैं जो उस दौर के मुद्दों में खासी दिलचस्पी रखती थी, और जो नारीवाद, उपनिवेशवाद, लैंगिक न्याय, सामाजीकरण और साम्यवाद की बहसों से जुड़ी थीं। उन्होंने उस समय कम्युनिस्ट पार्टी में शिरकत की जिस समय औरतों को घर से बाहर निकालने की आज़ादी नहीं थी।

रशीद जहां पेशे से एक डाक्टर थीं और इसलिए वे अपने महिला मरीज़ाओं की शारीरिक तकलीफ़ों के साथ-साथ उनकी मानसिक त्रासदी को भी बखूबी समझती थीं। शिक्षा की कमी, बाल विवाह, परिवार नियोजन का अभाव जैसे अनकहे मुद्दों पर रशीद जहां ने बड़ी बेबाकी और संवेदनशीलता के साथ लेख और कहानियां लिखीं।

जलील द्वारा रशीद जहां के जीवन से हमें रूबरू कराने में यह पुस्तक कामयाब होती है पर इसमें रशीद जहां के जीवन की एक आधा-अधूरी सी तस्वीर मिलती है। फिर भी इस किताब का महत्व इस सच्चाई को उजागर करने में है कि एक औरत ने किस तरह अपनी ज़िंदगी और लेखन के ज़रिए दूसरी लेखिकाओं के लिए सुगम रास्ते बनाए। 'मुसलमान लड़कियों के लिए रशीद जहां ने अनेक संभावनाओं के दरवाज़े खोल दिए' ऐसा रख्शंदा जलील का मानना है। रशीद जहां की इस जीवनी को हमारे सामने लाकर लेखिका ने अन्याय और बदलाव को दिशा देने का इरादा रखने वाली लेखिकाओं की एक कड़ी को चिन्हित करने का सफल काम किया है।

जलील ने एक कुशल अनुवादक की हैसियत से रशीद जहां की कहानियों की निहित ताक़त को पाठकों तक पहुंचाने का एक ईमानदार प्रयास किया है। फिर भी कहीं-कहीं उर्दू भाषा की बारीकियों की कमी खलती है। पर मूल लेखन को तीखापन और भाषा की गहराई को शब्द-ब-शब्द अनुवाद में उतार पाना हमेशा संभव नहीं हो पाता। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए यह माना जा सकता है कि रशीद जहां की ज़िंदगी और उनके काम को इस दस्तावेज़ के ज़रिए जानने का यह सराहनीय प्रयास है।

–जुही जैन

जुही जैन *नारीवादी कार्यकर्ता व हम सबला की सम्पादक है।*

पिछले कुछ दिनों में हमारा साथ छोड़ जाने वाली इन साथिनों को हम सलाम करते हैं।

सत्यारानी चड्ढा

भारत के दहेज़ विरोधी आंदोलन की प्रतिबद्ध कार्यकर्ता, *शक्तिशालिनी* के माध्यम से महिला मुद्दों पर सक्रिय योगदान।

ज्योत्सना मिलन

हिन्दी साहित्य की प्रतिष्ठित कथाकार, कवयित्री व *सेवा भारत* की पत्रिका *'अनसूया'* की संपादक।

मीना अग्रवाल

तेजपुर महिला समिति की सामाजिक और गांधीवादी विकास कार्यकर्ता जिन्होंने एक लम्बे अर्से तक ज़मीनी स्तर पर महत्वपूर्ण विकास कार्य किए।

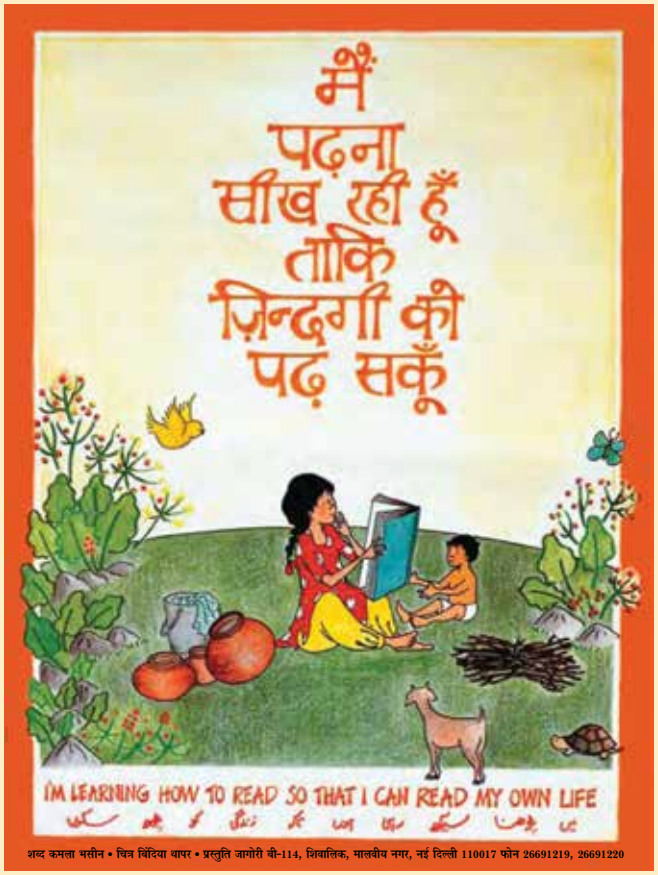

शब्द कमला भसीन • चित्र विंदिया थापर • प्रस्तुति जागोरी बी-114, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017 फोन 26691219, 26691220

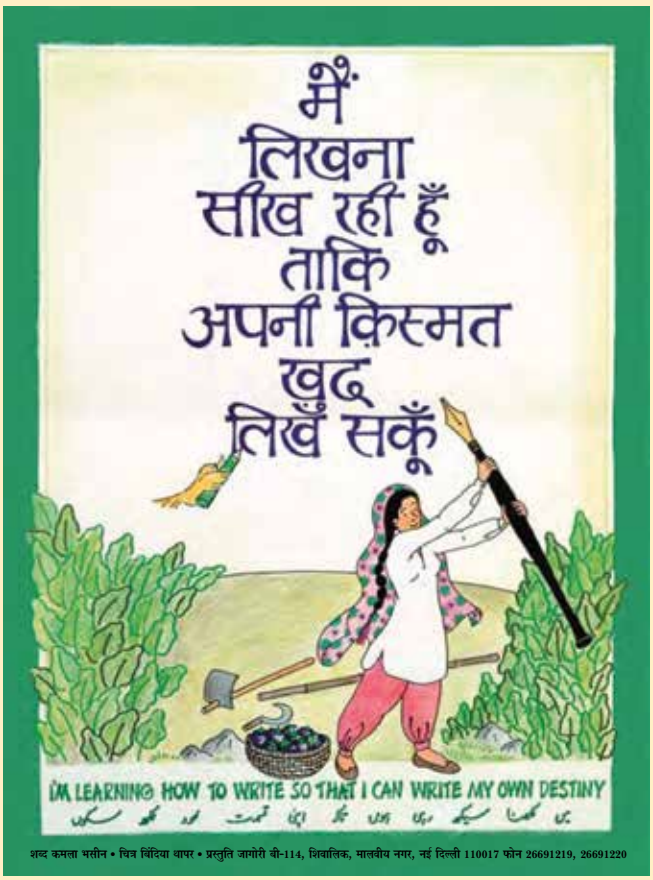

शब्द कमला भसीन • चित्र विंदिया थापर • प्रस्तुति जागोरी बी-114, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017 फोन 26691219, 26691220

शब्द कमला भसीन • चित्र विंदिया थापर • प्रस्तुति जागोरी बी-114, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017 फोन 26691219, 26691220

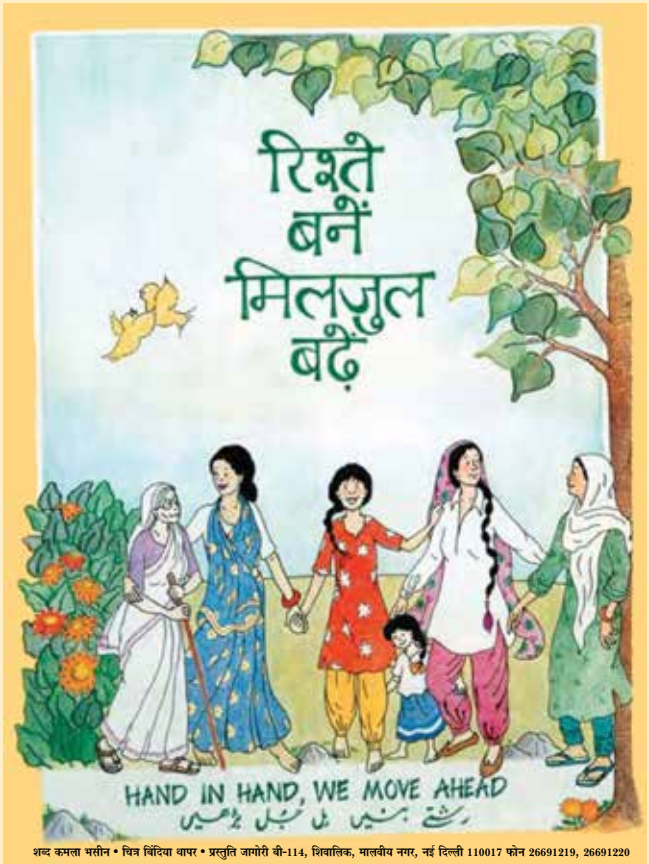

शब्द कमला भसीन • चित्र विंदिया थापर • प्रस्तुति जागोरी बी-114, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017 फोन 26691219, 26691220

I AM NOT THE WALL THAT DIVIDES
I AM A CRACK IN THAT WALL